ISSN 2277-5854 UGC Approved Journal No. 40949 UPNUL/2013/51445

षाण्मासिकी

श्रीविद्यामल्लमहायोग

आगमतन्त्र की शोधपत्रिका

श्रीविद्या साधना पीठ

वाराणसी -उ.प्र.

वर्ष १५ अगस्त २०२५ अङ्क १

UPNUL/2013/51445
अभिनिर्देशित एवं सन्दर्भित

ISSN 2277-5854
UGC CARE LISTED

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग

(आगमतन्त्र की शोधपत्रिका)

(षाण्मासिकी)

गुरुवरजन्मशतीविशेषाङ्कः

संस्थापक सम्पादक
श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ जी
(सीताराम कविराज)

सम्पादक
प्रो. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
पूर्व-समन्वयक, उच्च अध्ययन केन्द्र व
पूर्व-अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

सह-सम्पादक
डॉ. दीपक कुमार शर्मा
सहायक आचार्य, डी.ए.वी.पी.जी. कॉलेज
(काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

श्रीविद्या साधना पीठ
वाराणसी (उ.प्र.)

वर्ष 15 अङ्क 1

श्रीविद्या साधना पीठ शिवसदन गणेश बाग, नगवा, वाराणसी के लिये प्रकाशानन्दनाथ द्वारा श्रीविद्या साधना पीठ, शिवसदन, गणेश बाग, नगवा, वाराणसी से प्रकाशित एवं स्टार लाईन भवन संख्या बी 13/90 सोनारपुरा, वाराणसी से मुद्रित।

Website Link : https://shreevidyasadhanapeeth.com/home/our_pooja

अगस्त, **2025**

सम्पादक :
प्रो. राजेन्द्रप्रसाद शर्मा

प्राप्तिस्थान
प्रकाशन विभाग
श्रीविद्यासाधनापीठ
शिवसदन, गणेशबाग, नगवाँ, वाराणसी
दूरभाष : 0542-2366622/9452917551

UPNUL/2013/51445
ISSN. 2277-5854
UGC Approved Journal (No. 40949)
UGC CARE-listed

सङ्गणकटङ्कित :
विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर

मुद्रक :
स्टार लाईन
सोनारपुरा, वाराणसी।

मूल्य : 250/-

सम्पादकीय परामर्श मण्डल

प्रो. एस. सुदर्शन शर्मा, पूर्व-कुलपति, श्री वेंकटेश्वर वैदिक विश्वविद्यालय, तिरुपति।

प्रो. श्रीनिवास वरखेडी, कुलपति, केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

प्रो. युगल किशोर मिश्र, पूर्व-कुलपति, ज.रा. राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर (राजस्थान)

प्रो. श्रीकिशोर मिश्र, पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू वि. वि., वाराणसी-221005

प्रो. सच्चिदानन्द मिश्र, सदस्य, भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, महरौली-बदरपुर रोड, नई दिल्ली-110062

प्रो. रमाकान्त आङ्गिरस, कालिदास प्रोफेसर एवं पूर्व-अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़।

प्रो. शीतलाप्रसाद पांडेय, अध्यक्ष, धर्मागम विभाग, संस्कृतविद्या, धर्मविज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

प्रो. गोपाल प्रसाद शर्मा, आचार्य, वेद विभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विश्वविद्यालय, कुतुब सांस्थानिक क्षेत्र, नई दिल्ली-110016

प्रो. रवीन्द्रनाथ भट्टाचार्य, संस्कृत विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकाता-700073

प्रो. चन्द्रकान्ता राय, पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, आर्यमहिला पी.जी. कॉलेज, वाराणसी,-221002

प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर-470003

नोट : इस अंक में प्रकाशित समस्त लेखों के सम्बन्ध में सभी विवाद वाराणसी न्यायालय के अधीन होंगे।

UPNUL/2013/51445 Peer Reviewed & referred ISSN 2277-5854
Peer Reviewed & referred UGC CARE LISTED

ŚRĪVIDYĀ MANTRAMAHĀYOGA

Āgamic-Tāntric Research Journal

(Bi-annual)

Guruvara Janmashatee Visheshanka

Founder-Editor
Sri Dattātreyānandanāth
(Sitaram Kaviraj)

Editor
Prof. Rajendra Prasad Sharma
Ex-Co-ordinator (UGC CAS)
Ex-Head, Department of Philosophy,
University of Rajasthan, Jaipur.

Co-Editor
Dr. Deepak Kumar Sharma
Asst. Professor, D.A.V.P.G. College
(Banaras Hindu University, Varanasi)

ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA
Varanasi (U.P.)

वर्ष 15 अङ्क 1

Printed and Published by Prakashanand Nath on behalf of Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.
Printed at Starline, H. No.-B-13/90, Sonarpura, Varanasi and Published at Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan, Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.

Website Link : https://shreevidyasadhanapeeth.com/home/our_pooja

August, 2025

Editor :
Prof. Rajendra Prasad Sharma

Publications are available at :
Publications Department
ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA
Shiv Sadan, Nagawa, Varanasi-221005
Ph. 0542-2366622/9452917551

UPNUL/2013/51445
ISSN. 2277-5854
UGC Approved Journal (No. 40949)
UGC CARE-listed

Type Setting :
Vishal Computers, Jaipur.

Printer :
Starline, Sonarpura, Varanasi

Price : 250/-

Note : Any dispute arising on articles published in this issue shall be decided under the jurisdiction of Varanasi Court only.

विषय–सूची

	सम्पादकीय	प्रो. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा	
शोधलेख			
1.	पुरी के जगन्नाथ और उनकी शाश्वत परम्परा का शास्त्रीय मूलाधार	आचार्य अरुण कुमार उपाध्याय (IPS Retd)	1–13
2.	स्त्री है लक्ष्मी–सरस्वती	आचार्य गुलाब कोठारी	14–16
3.	दस महाविद्याओं में भगवती काली का स्वरूप और साहित्य विमर्श	प्रोफेसर राजेन्द्र प्रसाद शर्मा	17–26
4.	*नेत्रतन्त्र* में त्र्यक्षरी महामृत्युञ्जय मन्त्र साधना	डॉ. हर्षदेव माधव	27–33
5.	*श्रीदुर्गासप्तशती* के स्वरूप पर क्षेत्रीय प्रभाव एवं वैविध्य का चिन्तन	डॉ. घनश्याम चन्द्र उपाध्याय	34–36
6.	शाक्तागम में षट्चक्र योग	डॉ. योगेश प्रसाद पाण्डेय	37–42
7.	चरकीय दर्शन में ज्ञानमूला शान्ति का स्वरूप	डॉ. विश्वावसु गौड एवं (राष्ट्रपति–सम्मानित) प्रो. वैद्य बनवारीलाल गौड	43–49
8.	*वाल्मीकि रामायण* में चिकित्सा विज्ञान (मन्त्र चिकित्सा, स्पर्श चिकित्सा एवं संगीत चिकित्सा के विशेष संदर्भ में)	डॉ. कपिलगौतम	50–63
9.	वेदों में ब्रह्म और यज्ञ का स्वरूप	प्रो. ज्योत्स्ना वशिष्ठ	64–71
10.	*उद्धवगीता* का दार्शनिक विवेचन	डॉ. समीर कुमार	72–77
11.	ऋग्वेदे ऋषिकाणां स्थानम्	डॉ. मिठु–विश्वासः एवं डॉ. शुभ्रजित्सेनः	78–83

12.	गीतायां ज्ञानयोगस्तथा चाधुनिकपरिप्रेक्षे गीतानुसारि मनुष्यजीवनम्	डॉ. लोकेश–मण्डलः	84–92
13.	दर्शनशास्त्रनिकाये मुक्तिवादविमर्शः	डॉ. शुभ्रजित् सेनः एवं डॉ. सोमनाथ–चट्टोपाध्यायः	93–100
14.	Role of Five Yama in Environmet Protection	Dr. Sanwar Singh Yadav	101–108
15.	Nāda Yoga: The Path of Inner Sound in Yogic Traditions	Rajesh Singh, Dr. Sweta malik	109–117
16.	Philosophical and Practical Approaches to Overcoming Challenges in Agama-Tantra Practice: Insights from the Bhagavad Gita	Rajkumar Powdel	118–130
17.	Conceptual values of Kundalini in Tantra	Monika anand	131–137
18.	Mañjuśrī:Trikulanātha	Yamit Kashyap	138–148

सम्पादकीय

प्रातःस्मरणीय परमपूज्य गुरुवर श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ जी (सीताराम कविराज) के चरणों में कोटिशः प्रणाम। हर्ष और परम सौभाग्य का विषय है कि फाल्गुन शुक्ल नवमी (8 मार्च, 2025) से पूज्य गुरुदेव का जन्मशती वर्ष प्रारम्भ है तथा 25.2.2026 को जन्म शताब्दी वर्ष सम्पूर्ण होगा। एतदर्थ *श्रीविद्यामन्त्रमहायोग* का परिवर्धित विशेषांक प्रस्तुत किया जा रहा है। इसमें पत्रिका के पृष्ठों की वृद्धि करने का निर्णय भी श्री प्रकाशानन्दनाथ जी के द्वारा किया गया है। यह सौभाग्य एवं आनन्द का विषय है। गुरुजी के जन्मोत्सव को साधकों का सदा मानना ही चाहिये, यह तन्त्र की परम्परा है। अतः गुरुजी की इच्छा अनुरूप शोध पत्रिका का प्रकाशन अबाधित गति से हो रहा है। इससे श्रीविद्या साधकों को शास्त्रीय तत्त्व समझने में अति सरलता एवं सहजता होती है। यह एक सारस्वत यज्ञ है। इनकी निरन्तरता हमारे पर गुरुजी के आशीर्वाद का प्रतिफलन है।

पूज्य गुरुजी का कर्तृत्व परिचय

साधक शिरोमणि, सर्वतन्त्र स्वतन्त्र तन्त्रशास्त्र के मनीषी विद्वान् आचार्य श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ (पं. सीताराम कविराज) जी का जन्म विक्रम संवत् 1982 फाल्गुन शुक्ल नवमी (21.2.1926 ई.) को राजस्थान प्रदेश की पवित्र शेखावाटी भूमि फतेहपुर में मारवाड़ी गौड ब्राह्मण परिवार में हुआ था।

आपके पिता गौरीदत्त नागौरी प्रसिद्ध आयुर्वेदिक चिकित्सक थे। आपके वंशज आयुर्वेद की परम्परागत चिकित्सा का कार्य करते थे। आपकी माता श्रीमती मणि देवी एक धर्मनिष्ठ कुशल गृहिणी थी। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा स्थानीय जन्मभूमि फतेहपुर में ही हुई। आपकी बाल्यकाल से ही धर्म एवं अध्यात्म में गहरी रुचि थी। साथ-साथ वंशानुगत आयुर्वेद में भी आप का रुझान रहा है। आपने आयुर्वेद शास्त्र का पारम्परिक अध्ययन अपने पूर्वजों व अन्य चिकित्सकों के अतिरिक्त यशस्वी वैद्य मणिराम जी शर्मा (काश्मीर) से किया।

आपका विवाह विक्रमसंवत् 1996 (रतनगढ़, राजस्थान) में सावित्री देवी के साथ हुआ। आपकी आयुर्वेद के साथ-साथ संस्कृत में भी स्वभावत: गहरी रुचि थी, अत: आयुर्वेद, संस्कृत, धर्म, अध्यात्म का अध्ययन आपका मूल विषय रहा।

आप विवाहोपरान्त सन् 1945 में पश्चिम बंगाल में कलकत्ता आए। अपने गृहस्थधर्म का पालन करते हुए जीवकोपार्जन के रूप में आपने शीघ्र ही परम्परागत आयुर्वेद चिकित्सा कार्य प्रारम्भ किया। उस समय आपको अतिशीघ्र ही शहर के लब्ध प्रतिष्ठितजन की कुशल चिकित्सा से प्रसिद्धि प्राप्त हुई। इसी बीच आपकी किसी निजी कार्यवश काशी यात्रा हुई और काशी भ्रमण करने के बीच ही आपने स्वयं यह निर्णय लिया कि शेष जीवन काशी में ही बिताना है, परन्तु साथ में गृहस्थ जीवन का भी दायित्व सामने था। आपकी पत्नी, 4 पुत्र व 2 पुत्रियों की जिम्मेदारी भी थी। धीरे-धीरे समय के साथ आयुर्वेद, धर्म और अध्यात्म जीवन के अभिन्न अंग हो गए। आपका जीविकोपार्जन मात्र जिम्मेदारी निर्वाह तक ही सीमित रहा। आप सेवाभाव से लगे रहे। आपकी दिनचर्या में साधना,

धर्म–अध्यात्म, सत्संग के साथ आगम–तन्त्र में भी आपकी गहरी रुचि होने लगी। *श्रीमद्भगवद्गीता* में आपकी आरम्भ से गहरी आस्था थी। आप प्रारम्भ से ही *दुर्गासप्तशती* का नियमित पाठ भी करते थे। समय–समय पर विद्वत्सभाओं में भाग लेते और अपनी अमिट छाप छोड़ते थे। आपकी संस्कृत काव्य में भी गहरी रुचि थी, संस्कृतकविसम्मेलनों में आप प्रमुखता से भाग लेते थे। आपने भक्तिपरक मनोरम पद्यों एवं गीति का निर्माण किया है। समय अपनी गति से आगे बढ़ता गया। उस समय आप पं. सीताराम कविराज (बंगाल में कविराज वैद्यों को कहते है) के नाम से कलकत्ते एवम् आस–पास में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। आगन्तुक रोगियों के रोगों का निदान कर विशुद्ध आयुर्वेदिक औषधियाँ वे स्वयं निर्मित कर रोगियों को देते थे।

साधनाक्रम में आपका प्रथम सुदृढ प्रवेश राजगुरु हरिदत्त जी शास्त्री (देहरादून) द्वारा 1948 ई. श्री भुवनेश्वरी मन्त्र के उपदेश के द्वारा हुआ। राजगुरु जी से आपको एक स्फटिक श्रीयन्त्र भी प्राप्त हुआ। आप पर राजगुरु जी की असीम अनुकम्पा थी और राजगुरु जी के निरन्तर निर्देशन में आपने भुवनेश्वरी साधना में पूर्णता प्राप्त की थी। लम्बे समय तक आपने राजगुरु जी का सान्निध्य प्राप्त किया। राजगुरु जी के जीवन काल में ही आपने साधनाक्रम के विस्तार के सम्बन्ध में जिज्ञासा व्यक्त की, तभी राजगुरु जी ने आशीर्वाद स्वरूप निश्चिन्त रहने का संकेत दिया। आपमें प्रारम्भ से ही श्रीविद्या उपासना क्रम की सम्पूर्णता की जिज्ञासा विद्यमान थी। इसक्रम में आपने अनेक सन्त, महात्माओं, और श्रीक्रम में दीक्षित साधको के निकट में रह कर उनके पूजाक्रमों का सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक विधि का अध्ययन किया। तदनन्तर अभिनवशंकर धर्मसम्राट् स्वामी करपात्री जी महाराज की चरण–शरण प्राप्त हुई और उनकी महती कृपा से श्रीविद्योपासना क्रम में 1963 ई. काशीस्थ नारदघाट पर पूर्णाभिषिक्त हुए।

करपात्र स्वामी जी अक्सर कलकत्ते आते तो आप बराबर उनके सान्निध्य को प्राप्त करते और स्वामी जी की अनुमति एवं प्रेरणा से अपनी श्रीविद्योपासना को सुदृढ़ करते चले गए। आपने श्रीचक्र (श्रीयन्त्र) की महापूजा का पूर्ण प्रायोगिक एवं शास्त्रीय ज्ञान अर्जित किया और प्रति दिन महापूजा करने लगे। धीरे–धीरे इसी बीच आपने अपने महत्त्वपूर्ण पारिवारिक दायित्वों की पूर्ति कर ली थी और सन् 1983 में काशीवास हेतु आए और काशी में मुमुक्षुभवन में रहकर श्रीविद्योपासना के शीर्ष पर पहुँचे। उसी समय आपने श्रीविद्याविषयक ग्रन्थों का सम्पादन किया, जिनमें *श्रीविद्यारत्नाकर* तथा *श्रीविद्यावरिवस्या* आदि प्रमुख हैं। *साम्बपञ्चाशिका* तथा *विरूपाक्षपञ्चाशिका* की हिन्दी व्याख्या आपके शास्त्रीय ज्ञान का प्रथम प्रकाशन रहा है।

आगमशास्त्र के प्रचार प्रसार के उद्देश्य तथा श्रीविद्योपासना के सरल एवं प्रायोगिक ज्ञान साधकों को सुलभ कराने के उद्देश्य से ही आपने स्वयं '**श्रीविद्यासाधना पीठ**' की स्थापना की, और श्रीविद्या सम्प्रदाय में साधक–साधिकाओं को दीक्षित कर मार्गदर्शन किया। जिसके परिणामस्वरूप नगवां वाराणसी स्थित पीठ में प्रतिदिन महापूजा, के साथ–साथ नैमित्तिक पर्वों पर विशेष पूजा एवं श्री ललितामहात्रिपुरसुन्दरी परा भट्टारिका राजराजेश्वरी श्री शाङ्करी देवी का ललिता सहस्रनाम से अर्चन, लक्षार्चन एवं कोट्यर्चन (जिसका प्रारम्भ आपने ही किया) जैसे बड़े–बड़े अनुष्ठान सम्पन्न होने लगे। आपने साधना के साथ–साथ अपने शोध एवं लेखन का भी निरन्तर क्रम जारी रखा। आपके द्वारा सम्पादित, मौलिक एवम् अनूदित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में *भक्ति–सुधा, श्रीविद्यारत्नाकर, श्रीविद्यावरिवस्या, श्रीभुवनेश्वरी–वरिवस्या, श्रीमहागणपति–वरिवस्या,*

ललिता सहस्रनाम, मन्त्र-महायोग, श्रीविद्या एवं श्रीयन्त्र एक परिचय, श्रीविद्याअष्टाङ्ग (तान्त्रिक पञ्चाग), उपचारमीमांसा, साम्बपञ्चाशिका, विरूपाक्षपञ्चाशिका एवं *श्रीविद्यार्णवतन्त्र (भाग 1 एवं 2) भावविवृति* (हिन्दी टीका) प्रमुख है। जिनसें साधकगण भरपूर लाभार्जन कर साधना मार्ग में अग्रसर हैं। इनके अतिरिक्त आपने तन्त्र साधना एवं उपासना से सम्बन्धित महत्वपूर्ण लेख लिखे जो कि विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए है। इनका संग्रह *श्रीविद्या-साधना-मीमांसा* के रूप में प्रकाशित है। साथ ही धर्म, अध्यात्म, तन्त्र, साधना व आगम तन्त्र के शोधार्थियों का मार्ग निर्देशन किया। समय-समय पर आपने तन्त्र आगम वेद, संस्कृत आदि की गोष्ठियाँ आयोजित कर तथा अन्यत्र आयोजित गोष्ठियों में उपस्थित होकर भी अपने चिन्तन से साधकों को लाभान्वित किया।

पुरस्कार एवं सम्मान

आपको आगम तन्त्र के प्रचार-प्रसार-योगदान के लिए सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी द्वारा स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती (करपात्र स्वामी) स्मृति पुरस्कार (1 अगस्त, 1992) प्रदान किया गया।

संस्कृत विद्या के क्षेत्र में विशिष्ट योगदान के लिए राजस्थान संस्कृत अकादमी (जयपुर) द्वारा पञ्चसहस्रमुद्रात्मक पुरस्कार एवं सम्मान (28 मार्च, 1995 में) प्रदान किया।

राष्ट्रिय संस्कृत वर्ष के अन्तर्गत राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान नई दिल्ली (मानव संसाधन विकास मंत्रालय भारत सरकार) के द्वारा सन् 2000 में विशिष्ट विद्वत्सम्मान प्रदान किया गया। साथ ही काशी की पाण्डित्य परम्परा के महानुभावों ने आपका साभार सम्मान किया।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. राममूर्ति शर्मा ने 5.9.2001 को शिक्षक दिवस पर सम्मानित किया।

गुरुवर सीताराम जी कविराज को श्रीरामलक्ष्मीनारायण मारवाड़ी हिन्दू अस्पताल गौदोलिया, वाराणसी ने धनवन्तरि जयन्ती पर आयुर्वेद की अविस्मरणीय सेवाओं के लिए 12 नवम्बर, 2001 को सम्मानित किया।

भारत के महामहिम राष्ट्रपति द्वारा (सन् 2002 में) संस्कृत वाङ्मय एवं शास्त्र में नैपुण्य हेतु आपको **राष्ट्रपति पुरस्कार** भी प्रदान किया गया। यह सम्मान 6 फरवरी, 2002 में नई दिल्ली में अधिगत हुआ।

जीवन के अशीति वर्ष पूर्ण करने पर आयोजित अमृत महोत्सव में आपका सम्मान काशी के विद्वत्समाज के द्वारा सम्पन्न हुआ। आपको अभिनन्दन पत्र भी प्रदान किया गया।

देश के मूर्धन्य मनीषियों, गणमान्य राजनेताओं, तथा विशिष्ट नागरिकों ने आपका आध्यात्मिक शिष्यत्व ग्रहण किया है। आप द्वारा स्थापित श्रीविद्यासाधनापीठ में निरन्तर श्रीविद्या के क्रियात्मक एवं सैद्धान्तिक- दोनो पक्षों के ज्ञान के साथ वेद एवं संस्कृत वाङ्मय के विविध शास्त्रों में स्नातकों का प्रशिक्षण निरन्तर चल रहा है।

आपकी 80 वर्ष पूर्ति के अवसर पर मार्च, 2006 ई. में आपके शिष्यों द्वारा काशी में द्वादश द्विवसीय अमृतमहोत्सव का आयोजन किया गया। जिसमें प्रतिदिन श्री ललितासहस्रनाम लक्षार्चन एवं विद्वत्सभा, संस्कृतकाव्यगोष्ठियों का आयोजन हुआ।

आपने अनुत्तराम्नाय अधिष्ठात्री शाङ्करी देवी (श्रीक्रम की चरम देवी) की भव्य प्रतिमा नवनिर्मित मंदिर में प्रतिष्ठापित कर साधकों एवं शिष्यों पर महती कृपा की है। आप हमेशा अपने शिष्यों के मार्गदर्शन में सुलभ व सहायक रहे है। आपकी स्वामी करपात्री जी के चरणों में अगाधश्रद्धा रही है। आप निरन्तर स्वामी जी की जयन्ती पर मोदकार्चन तथा लक्षार्चन एवं विद्वद् गोष्ठी आयोजित करते रहे है।

आपने साधकों के उत्साहवर्धन तथा श्रीविद्या के प्रचार-प्रसार हेतु धर्मसम्राट् स्वामी करपात्री स्मृतिपुरस्कार, श्रीविद्यासाधना पुरस्कार, श्रीविद्यार्चा सम्मान एवं श्रीविद्यासाधक-सम्मान प्रतिवर्ष करपात्री स्वामी की जयन्ती समारोह में प्रदान किया। 30 सितम्बर, 2009 आश्विन शुक्ल एकादशी के दिन आपको काशी में शिवसायुज्य प्राप्त हुआ। जन्मशती पर श्रीगुरु चरणों में कोटिश: प्रणाम।

आलेख परिचय

इस अङ्क के प्रथम आलेख 'पुरी के जगन्नाथ और उनकी शाश्वत परम्परा का शास्त्रीय मूलाधार' में आचार्य अरुण कुमार उपाध्याय (IPS Retd) ने पुरी के भगवान् जगन्नाथ की विशिष्ट महिमा को शास्त्रीय आधार पर विवेचित किया है। जगत् के नाथ रूप में भगवान् विष्णु ने जल से किस प्रकार सृष्टि का पालन किया है। नारायण ने अपने नाभि कमल से उत्पन्न ब्रह्मा के द्वारा जगत् की सृजना करके उसके पालन एवं रक्षण की व्यवस्था अपने पास रखी है। अनेक राक्षसों का वध करने के बाद भी जगत् अक्षुण्ण रहता है। पुरी के जगन्नाथ मन्दिर की अनादि परम्परा का भी शास्त्रीय वर्णन करके आचार्य जी ने बड़ा कार्य सम्पन्न किया है। अत: सादर प्रणाम। हार्दिक अभिनन्दन।

द्वितीय आलेख 'स्त्री है लक्ष्मी-सरस्वती' में राजस्थान पत्रिका के प्रधान सम्पादक तथा पण्डित मधुसूदन ओझा वैदिक अध्ययन संस्थान के आचार्य प्रख्यात वेदमनीषी गुलाब कोठारी ने स्त्री की दिव्य रूप की महत्ता सिद्ध की है। वैदिक विज्ञान के अनुसार स्त्री लक्ष्मी भी है, साथ में सरस्वती भी है। ज्ञान शक्ति, क्रियाशक्ति तथा इच्छा शक्ति की दृढ़ता के कारण ही स्त्रियों ने इस संस्कारयुक्त समाज के निर्माण में अद्वितीय योगदान दिया है। इस महनीय चिन्तन कार्य को सुस्पष्ट कर महान् उपकार किया है। अत: सादर प्रणाम व हार्दिक अभिनन्दन।

तृतीय आलेख 'दस महाविद्याओं में भगवती काली का स्वरूप और साहित्य विमर्श' में प्रोफेसर राजेन्द्र प्रसाद शर्मा ने दस महाविद्याओं में प्रथम भगवती काली के स्वरूप और साहित्य पर विमर्श प्रस्तुत किया है।

चतुर्थ आलेख *'नेत्रतन्त्र* में त्र्यक्षरी महामृत्युञ्जय मन्त्र साधना' में डॉ. हर्षदेव माधव ने नेत्रतन्त्र के आधार पर त्र्यक्षरी मृत्युञ्जय मन्त्र का आगमिक विवेचन प्रस्तुत किया है। मन्त्र के बीजों का स्पष्टीकरण तथा माहात्म्य को सुनिरूपित किया है। *मन्त्र महार्णव* में निर्दिष्ट त्र्यक्षरी मन्त्र का शास्त्रीय विधान भी विवेचित करके साधकों का बहुत हित साधन किया है। एतदर्थ सादर नमन व अभिनन्दन।

पञ्चम आलेख *'श्रीदुर्गासप्तशती* के स्वरूप पर क्षेत्रीय प्रभाव एवं वैविध्य का चिन्तन' में डॉ. घनश्याम चन्द्र उपाध्याय ने *दुर्गासप्तशती* की विभिन्न पाण्डुलिपियों के आधार पर क्षेत्रीय प्रभाव तथा उनके वैविध्य की परम्परा का निर्देशन करके एक उत्तम कार्य सम्पन्न किया है। अत: सादर नमन और हार्दिक साधुवाद।

षष्ठ आलेख 'शाक्तागम में षट्चक्र योग' में डॉ. योगेश प्रसाद पाण्डेय ने शाक्तागम में निरूपित षट्चक्रों की साधना की विधि पर विवेचन प्रस्तुत किया है, जो साधकों के लिए अति उपयोगी है। अत: साधुवाद।

सप्तम आलेख 'चरकीय दर्शन में ज्ञानमूला शान्ति का स्वरूप' में डॉ. विश्वावसु गौड एवं (राष्ट्रपति-सम्मानित) प्रो. वैद्य बनवारीलाल गौड ने आयुर्वेद के प्रधान ग्रन्थ *चरक संहिता* के अनुसार यथार्थ ज्ञान और उसके आचरण से निष्पन्न शान्ति के आधारभूत नैतिक सद्गुणों की गहन विवेचना प्रस्तुत की है। दार्शनिकों का मोक्ष आत्मा की चिरशान्ति का ही अपरनाम है। मानव के लिए इस अवस्था की प्राप्ति हेतु चरक के दर्शन की सुप्रामाणिकता सिद्ध कर अद्भुत कार्य किया है। अत: सादर प्रणाम और हार्दिक साधुवाद।

अष्टम आलेख '*वाल्मीकि रामायण* में चिकित्सा विज्ञान (मन्त्र चिकित्सा, स्पर्श चिकित्सा एवं संगीत चिकित्सा के विशेष संदर्भ में) में डॉ. कपिलगौतम ने *वाल्मीकि रामायण* के आधार पर चिकित्सा विज्ञान की सुदृढ़ परम्परा का सप्रमाण विवेचन किया है। इस लेख से भारतीय ज्ञान की सर्वोच्चता तथा लोकोपकारिता सिद्ध होती है। अत: सादर अभिनन्दन।

नवम आलेख 'वेदों में ब्रह्म और यज्ञ का स्वरूप' में प्रो. ज्योत्स्ना वशिष्ठ ने वैदिक साहित्य के विपुल उद्धरणों से ब्रह्म और यज्ञ के विषय में शास्त्रीय चिन्तन प्रस्तुत किया है। इस उत्तम लेखन के लिए उन्हें सादर साधुवाद और अभिनन्दन।

दशम आलेख '*उद्धवगीता* का दार्शनिक विवेचन' में डॉ. समीर कुमार ने *भागवत* के एकदश स्कन्ध में प्रस्तुत उद्धव गीता पर दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत किया है। भगवान् कृष्ण और उद्धव के सम्वाद में कथित यह गीता दर्शन जगत् की अमूल्य धरोहर है। इसमें विवेचित दार्शनिक चिन्तन अत्यन्त उल्लेखनीय है। एतदर्थ हार्दिक साधुवाद।

एकादश आलेख 'ऋग्वेदे ऋषिकाणां स्थानम्' में डॉ. मिठु-विश्वास एवं डॉ. शुभ्रजित्सेन ने वैदिक ऋषिकाओं का प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत कर महोपकार किया है एतदर्थ लेखकद्वयी का हार्दिक साधुवाद।

द्वादश आलेख 'गीतायां ज्ञानयोगस्तथा चाधुनिकपरिप्रेक्षे गीतानुसारि मनुष्यजीवनम्' में डॉ. लोकेश-मण्डल ने गीता के ज्ञानयोग का प्रतिपादन कर आधुनिक जीवन में गीतोक्त मार्ग की सफलता एवं सार्थकता को मण्डित करने का सफल प्रयास किया है। अत: सादर साधुवाद।

त्रयोदश आलेख 'दर्शनशास्त्रनिकाये मुक्तिवादविमर्श:' में डॉ. शुभ्रजित् सेन एवं डॉ. सोमनाथ-चट्टोपाध्याय ने भारतीय दर्शन के मुक्तिवाद का सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है। विभिन्न भारतीय धाराओं में मुक्ति का स्वरूप किस प्रकार विभिन्न है इस पर विचार किया है। अत: लेखकद्वयी को सादर साधुवाद।

चतुर्दश आलेख 'Role of Five Yama in Environmet Protection' में डॉ. साँवरसिंह यादव ने पातञ्जल योग के प्रथम अंग 'यम' की विस्तृत विवेचना की है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं

अपरिग्रह रूपी यम का सिद्धान्त सभी चिन्तन परम्पराओं में निर्विवाद रूप में विवेचित हुआ है जो पर्यावरण एवं सामाजिक सद्भाव के लिए परमावश्यक है। अत: साधुवाद।

पन्द्रहवें आलेख 'Nāda Yoga: The Path of Inner Sound in Yogic Traditions' में राजेश सिंह एवं डॉ. स्वेता मलिक ने नाद योग पर शास्त्रीय ग्रन्थों के आधार पर समुचित विवेचन किया है। इसके चार आयामों के आधार पर नादयोग की विशिष्टता को रेखांकित किया है। अत: लेखकद्वयी का साधुवाद।

सोलहवें आलेख 'Philosophical and Practical Approaches to Overcoming Challenges in Agama-Tantra Practice: Insights from the Bhagavad Gita' में राजकुमार पाउडल ने तन्त्र साधना में मनोनिवृत्ति हेतु गीता में वर्णित योग साधना के आधारों को समीक्षित किया है। गीता सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक ग्रन्थ है, इससे यह सिद्ध होता है। अत: साधुवाद।

सत्रहवें आलेख 'Conceptual values of Kundalini in Tantra' में मोनिका आनन्द ने कुण्डलिनी शक्ति के अवधारणात्मक मूल्यों के निर्धारण का उचित प्रयत्न किया है। कतिपय योग की उपनिषदों के आधार पर अन्तर्याग के षट्चक्रों में कुण्डलिनी साधना की विधि विवेचित की है। तन्त्र साधना के शास्त्रीय रहस्यों को उन्मीलन किया है। अत: साधु अभिनन्दन।

अट्ठारहवें आलेख 'Mañjuśrī:Trikulanātha' में यमित कश्यप ने बौद्ध तन्त्र की परम्परा में मञ्जुश्री त्रिकुलनाथ का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। वैदिक परम्परा में निरूपित सरस्वती का उससे क्या सादृश्य है? उसका ब्रह्म से क्या सम्बन्ध है? ऐसी जिज्ञासाओं की निवृत्ति का सफल प्रयास किया है। अत: साधुवाद।

यह अङ्क न केवल अभूतपूर्व एवं महत्त्वपूर्ण सामग्री को साधकों के लिये उपलब्ध कराता है अपितु नई अनुसन्धानपरक रचनाओं के द्वारा तन्त्रशास्त्र की सार्वकालिक उपादेयता पर विचार करता है। हमें विश्वास है कि साधकवर्ग में इस अङ्क का भी यथापूर्व स्वागत होगा और यह उनके लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। जो साधक इस सारस्वत यज्ञ में लेख रूपी आहुति देना चाहते हैं, वे इमेल पर 'वर्ड डाकुमेन्ट' में भेज सकते हैं।

प्रो. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
(शिवानन्दनाथ पूर्णाभिषिक्त)
सम्पादक
55 गोविन्दनगर, वैशाली नगर, जयपुर-302021
चलवाणी- 9413970601
rajendrasharmauniraj@gmail.com

पुरी के जगन्नाथ और उनकी शाश्वत परम्परा का शास्त्रीय मूलाधार

आचार्य अरुण कुमार उपाध्याय (IPS Retd)

1. **जगत् और विश्व**—लोकभाषा में दोनों एक ही हैं। किन्तु पुराण-वेद की विज्ञान भाषा में दोनों के अर्थ कुछ भिन्न हैं। विश्वनाथ शिव को कहते हैं, जगन्नाथ विष्णु को।

विश्व वह रचना है जो एक सीमा के भीतर प्रायः पूर्ण है तथा हृदय केन्द्र से संचालित है।

वालाग्रमात्रं हृदयस्य मध्ये विश्वं देवं जातरूपं वरेण्यं *(अथर्वशिर उपनिषद्, 5)*

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

(श्वेताश्वतर उपनिषद्, 5/13)

मनुष्य शरीर एक विश्व है। उससे बड़े विश्व के 5 स्तर हैं, जो क्रमशः मनुष्य आकार से कोटि-कोटि गुणा बड़े हैं। 3 प्रकार की पृथ्वी कही गयी है, जो सूर्य-चन्द्र से प्रकाशित है-पृथ्वी ग्रह, सूर्य प्रकाश क्षेत्र सौर मण्डल, सूर्य प्रकाश की अन्तिम सीमा सूर्यों का समूह या ब्रह्माण्ड। तीनों पृथ्वी से उनके आकाश उतने ही बड़े हैं, जितना मनुष्य तुलना में पृथ्वी।

रविचन्द्रमसोर्यावन्मयूखैरवभास्यते ।
स समुद्र सरिच्छैला पृथिवी तावती स्मृता ॥
यावत्प्रमाणा पृथिवी विस्तार परिमण्डलात् ।
नभस्तावत्प्रमाणं वै व्यास मण्डलतो द्विज ॥ *(विष्णु पुराण, 2/7/3-4)*
तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। *(ऋक्, 1/22/20)*

अन्य प्रकार से कहा है कि पृथ्वी के बाहर वायु के 7 स्तर क्रमशः 10-10 गुणा बड़े हैं। (*नारद पुराण*, 1/60, *ब्रह्माण्ड पुराण*, 1/2/22 अध्याय) कोटि का अर्थ सीमा है। हमारे लिए विश्व की सीमा पृथ्वी है जिसका व्यास हमारी ऊचाई चौड़ाई के औसत (1.28 मीटर) का 100 लाख गुणा है। अतः 100 लाख को कोटि (सीमा) कहते हैं। इसी प्रकार पृथ्वी से कोटि-कोटि गुणा बड़े सौर मण्डल (उसका आकर्षण क्षेत्र जिसमें कोई पिण्ड उसकी कक्षा में रह सकता है), ब्रह्माण्ड, तथा दृश्य जगत्। चेतन रूप में दृश्य विश्व को पुरुष सूक्त में पुरुष कहा गया है, जो पूर्ण विश्व रूपी पूरुष का 1/4 भाग है। पूरुष पूरे विश्व का 10 गुणा है।

स भूमिं विश्वतो वृत्त्वा अत्यत् तिष्ठत् दशाङ्गुलम्।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।
एतावान् अस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पूरुषः। *(पुरुष सूक्त, **1, 3,4**)*

आज की भाषा में कहते हैं कि प्रायः 9 अरब प्रकाशवर्ष व्यास का दृश्य विश्व 9 अरब वर्ष पूर्व का है। क्रमशः विस्तार के कारण यह 10 गुणा फैल चुका है। जीव जगत् के लिये चन्द्र कक्षा का गोल भी विश्व है। अतः मनुष्य तथा उससे बड़े विश्व के 6 स्तर हैं। मनुष्य से छोटे विश्व के 7 स्तर हैं, जो क्रमशः 1-1 लाख भाग छोटे हैं।

वालाग्रशतसाहस्रं तस्य भागस्य भागिनः।
तस्य भागस्य भागार्धं तत्क्षये तु निरञ्जनम् ॥ *(ध्यानविन्दु उपनिषद् **, 4**)*
ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देव दानवाः।
देवेभ्यश्च जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः॥ *(मनुस्मृति, **3/201**)*

आज की भाषा में इनका नाम इस प्रकार है-कलिल (Cell), परमाणु (atom), कुण्डलिनी (nucleus), जगत् कण (चर = lepton, स्थाणु = baryon, अनुपूर्व = meson), देव-दानव (क्रियाशील तथा निष्क्रिय ऊर्जा), पितर (prototype, quark?), ऋषि (रस्सी, string). मनुष्य आकार को 7 बार 1-1 लाख भाग छोटा करने पर 1.3 मीटर का 10 घात 35 भाग होगा जो आज के क्वाण्टम मेकानिक्स में सबसे छोटी प्लांक दूरी है। अतः विश्व के 13 स्तर हुए और गणित ज्योतिष में विश्व का अर्थ 13 अंक होता है।

जगत् क्रियाशील वस्तु है, जो दीखता नहीं है।

जगदव्यक्तमूर्तिना *(गीता, **9/4**)*

जगज्जीवनं जीवनाधारभूतं *(नारद परिव्राजक उपनिषद्,**4/50**)*

जगत् या चेतना के 14 स्तर हैं, जिनको 14 भुवन कहते हैं। आकाश में 8 दिव्य सृष्टि है, ब्रह्म मूल रूप है, उससे 7 लोकों के चेतना या प्राण के 7 स्तर दिव्य सृष्टि हैं। पृथ्वी पर 6 प्रकार की सृष्टि है, ब्रह्म का प्रतिरूप मनुष्य, जल, स्थल, वायु के जीव, अर्ध संज्ञक वृक्ष, सुप्त संज्ञक मिट्टी (मृत या मृदा)।

चतुर्दश विधो भूत सर्गः *(सांख्य तत्त्व समास, **18**)*
अष्ट विकल्पो देवः, तैर्यक् योनयश्च पञ्चधा भवति।
मानुष्यः च एकविधः, समासतो भौतिक सर्गः। *(सांख्य कारिका, **53**)*

= 8 देव योनि, मनुष्य, 5 तिर्यक् योनि।

2. **ब्रह्म रूप**—(1) **निर्विशेष ब्रह्म**—इसका वर्णन नहीं हो सकता है क्योंकि इसका कोई रूप, रंग, भेद नहीं है। इसे नेति नेति कहा गया है, अर्थात् कोई भी वर्णन पूर्ण नहीं है, नेति = न + इति = पूरा नहीं

हुआ। तुलसीदास ने नेति शब्द का प्रयोग किया ह-निगम नेति शिव अन्त न पावा, ताहि धरहिं जननी हठि धावा (*रामचरितमानस*, 1/202/8)। किन्तु यह अर्थ वेद में नहीं है, भागवत पुराण में गजेन्द्र स्तुति में है।

स वै न देवासुर मर्त्य तिर्यङ् न स्त्री न षण्ढो न पुमान् न जन्तुः।
नायं गुणं कर्म न सन्न चासन्, निषेधशेषो जयतादशेषः॥ *(भागवत पुराण, 8/3/24)*

निर्विशेष का वर्णन नहीं होता, केवल उपवर्णन होता है। यजुर्वेद में इसे पर्यगात् कहा है। जिनका स्वरूप या लिङ्ग है, उसी का वर्णन या सम्बोधन हो सकता है।

एवं गजेन्द्रमुपवर्णित निर्विशेषं, ब्रह्मादयो विविधलिङ्गभिधाभिमानाः।
नैते यदोपससृपुः निखिलात्मकत्वात्--॥30॥
छन्दोमयेन गरुडेन समुह्यमानः, चकायुधोभ्यगमदाशु यतो गजेन्द्रः॥31॥

(भागवत पुराण, 8/3)

जिसका शरीर है, वह सर्प की तरह क्रमशः आगे बढ़ेगा। इसे संसर्प गति कहा है। अव्यक्त ब्रह्म सबकी आत्मा है, वह तत्क्षण कहीं भी प्रकट हो सकता है। इसे अभिगमन कहा है। ईशावास्योपनिषद् में भी (वाज. यजु, अध्याय 40)-स पर्यगात्, शुक्रं अकायं अव्रणं, अपापविद्धम् (8)-अकाय का पर्यगात्, शब्दों से घेर कर ही वर्णन हो सकता है।

वह बिना चले देवों से पहले पहुंचता है—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्, तस्मिन् अपो मातरिश्वा दधाति॥ (4)

छन्द रूपी गरुड से गति-गरुड को पक्षी कहा गया है। जगन्नाथ मन्दिर के बाहर गरुड़ स्तम्भ भी है। जो स्वयं सर्वत्र व्याप्त है उसका वाहन कैसे? निर्विशेष ब्रह्म के भीतर अप् जैसे पदार्थ में आन्तरिक गति हो रही है जिससे सृष्टि होती है। इस आन्तरिक गति को मातरिश्वन् कहा गया है। जैसे कई चीजों को मिला कर जल में पकाते हैं, तो सभी मिलकर भोजन बनाते हैं।

एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं भुवनं वि चष्टे ।
तं पाकेन मनसापश्यमन्तितस्तं, माता रेळिह स उ रेळिह मातरम् ॥ *(ऋक्, 10/114/4)*

इस आन्तरिक गति को सुपर्ण, गरुत्मान्, मातरिश्वन् कहा गया है जो गरुड के कई रूप हैं।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

(ऋक्, 1/164/46, अथर्व, 9/10/28)

सुपर्ण पक्षी की तरह 7 ऋषियों (रस्सी = आकर्षण) का मिलन है। 4 आकर्षण बल पक्षी का चौकोर शरीर बनाते हैं। 2 पक्ष समरूपता हैं। पुच्छ निर्माण है, मुख स्रोत है। एक निर्माण अगले चक्र में स्रोत होता है। इस मिलन को सुपर्ण चिति कहते हैं (*शतपथ ब्राह्मण*, 6/1/1/2-6)।

ब्रह्म या व्यक्ति रूप में सुपर्ण के 2 रूप हैं, एक साक्षी (निर्विशेष ब्रह्म), दूसरा भोक्ता (विशिष्ट ब्रह्म) है। मनुष्य मस्तिष्क में इनको आत्मा तथा जीव कहा गया है जिनको बाइबिल में आदम और ईव कहा है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्यो अभिचाकषीति॥ ***(मुण्डक उप. 3/1/1,***
(श्वेताश्वतर उप. 4/6, ऋक्, 1/164/20, अथर्व, 9/9/20)

पिप्पल को बाइबिल में ऐप्पल लिखा है जिसमें मन लगा रहता है। (applying mind) स्तम्भ के 2 अर्थ हैं—स्थिर केन्द्र, मापदण्ड। यज्ञ स्तम्भ अर्यमा का रूप है जो मूल आदित्य (आदि रूप, अभी अन्तरिक्ष में दृश्य) है। ब्रह्माण्ड का आदित्य वरुण, सौरमण्डल का आदित्य मित्र है। इन 3 आदित्यों से 3 धामों की सृष्टि हुई।

तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीरुत द्यून्त्रीणि व्रता विदथे अन्तरेषाम् ।
ऋतेनादित्या महि वो महित्वं तदर्यमन् वरुण मित्र चारु ॥ *(ऋक्, 2/27/8)*

माप छन्द से होती है। सुपर्ण की गति मातरिश्वा से मिश्रण हो रहा है, इसलिये इनको वयः छन्द कहते हैं। वयन = बुनना, वयस = आयु, पक्षी। मुख्य 19 प्रकार के वयः छन्द है, जिनको मूर्धावयः कहा गया है (वाज. यजु, 14/9-10)। इनकी व्याख्या करना कठिन है, अभी तक सृष्टि विज्ञान रूप में किसी ने अर्थ नहीं किया है।

(2) **विष्णु रूप**-गायत्री मन्त्र के 3 पाद ब्रह्म के सृष्टि, कर्ता, ज्ञान रूप का वर्णन करते हैं, जिनको ब्रह्मा, विष्णु, शिव कहते हैं। ये आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक विश्वों का भी वर्णन करते हैं, जो परस्पर की प्रतिमा हैं। इनकी सूर्य केन्द्रित व्याख्या की जाती है। सूर्य से पृथ्वी तथा उस पर जीवन का निर्माण हुआ है, अतः उसे सविता कहते हैं। किन्तु वह मूल स्रष्टा नहीं है, जिसे तत् सविता कहते हैं। वह परब्रह्म है, जिससे दृश्य जगत्, ब्रह्माण्ड, और उसके भीतर सूर्य बने। सूर्य रूपी विष्णु को ही प्रायः ब्रह्म या पुरुष रूप कहते हैं। सूर्य से जो तेज निकलता है, वह इन्द्र है, जो खाली स्थान में भी भरा हुआ है।

नेन्द्रात् ऋते पवते धाम किञ्चन । *(ऋक्, 9/69/6)*

(देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे) इन्द्रियस्य इन्द्रियेण। *(तैत्तिरीय ब्राह्मण, 2/6/5/3)*

सूर्य के आकर्षण से पृथ्वी उसकी कक्षा में स्थित है, यह विष्णु रूप है—

पृथिवी त्वया धृता लोकाः, देवि त्वं विष्णुना धृता *(भूमि पूजन मन्त्र)।*
उभा जिग्यथुर्न पराजयेथे, न पराजिग्ये कतरश्च नैनोः।
इन्द्रश्च विष्णू यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम्॥ *(ऋक्, 6/69/8)*

किं तत् सहस्रमिति? इमे लोकाः, इमे वेदाः, अथो वागिति ब्रूयात्।
(ऐतरेय ब्राह्मण, 6/14)

सूर्य से हमारा जीवन चल रहा है, यह जगन्नाथ रूप है। इसे ज्योतिष में आत्मा कारक कहा है—

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च *(ऋक्, 1/115/1, अथर्व, 13/2/35, 20/107/14, वाज. यजु, 7/42, 13/46 आदि)।*

हमारी चेतना ब्रह्म रन्ध्र से हो कर सूर्य तक प्रकाश गति से जाती है तथा 1 मुहूर्त में 3 बार जा कर लौट आती है। 3 लाख कि.मी. प्रति सेकण्ड की गति से सूर्य तक प्रायः 15 करोड़ कि.मी. जाने में प्रायः 8 मिनट लगता है। हृदय से ब्रह्मरन्ध्र तक अणु पथ (हर व्यक्ति के लिए भिन्न) तथा वहां से सूर्य तक महापथ (सबके लिए एक) है।

अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलाणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्ल एष नील एष लोहितः॥1॥
तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छन्तीमं चामुं चामुष्मादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः॥2॥
..... अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामति अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रामते स ओमिति वा होद्वामीयते स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छत्यतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषा प्रपदनं निरोधोऽवदुषाम् ॥5॥
(छान्दोग्य उपनिषद्, 8/6/1,2,5) बृहदारण्यक उपनिषद् (4/4/8-9) भी।

रूपं रूपं मघवाबोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम्।
त्रिर्यद्दिवः परिमुहूर्त्तमागात् स्वैर्मन्त्रैरनृतुपा ऋतावा॥ *(ऋक्, 3/53/8)*

त्रिर्ह वा एष (मघवा=इन्द्रः, आदित्यः = सौर प्राणः) एतस्या मुहूर्त्तस्येमां पृथिवीं समन्तः पर्य्येति। *(जैमिनीय ब्राह्मण उपनिषद् 1/44/9)*

चण्डी पाठ, प्रथम अध्याय में सुप्त रूप को विष्णु तथा जाग्रत रूप को जगन्नाथ कहा गया है। यह काली चरित्र है, जगन्नाथ को दक्षिणाकाली भी कहते हैं। दक्षिणा का अर्थ है देना जिससे दक्षता हो। दक्षिणा काली रूपी अव्यक्त विश्व से विश्व का जन्म होता है, महाकाली में पुनः लय होता है। यह ब्रह्म की परिभाषा है कि

उससे जगत् की उत्पत्ति, विकास, लय आदि होता है-जन्माद्यस्य यतः (ब्रह्म सूत्र, 1/1/2) शिव भी रुद्र रूप में वामदेव, गुरु रूप में दक्षिणामूर्ति हैं। दुर्गा सप्तशती, अध्याय, 1-

विष्णुकर्णमलोद्भूतौ हन्तुं ब्रह्माणमुद्यतौ।
स नाभिकमले विष्णोः स्थितो ब्रह्मा प्रजापतिः॥68॥
निद्रां भगवतीं विष्णोरतुलां तेजसः प्रभुः॥71॥
विष्णुः शरीरग्रहणमहमीशान एव च॥84॥
विष्णोः प्रबोधनार्थाय निहन्तुं मधुकैटभौ॥90॥
जाग्रत होने के बाद-उत्तस्थौ च जगन्नाथस्तया मुक्तो जनार्दनः॥91॥
प्रबोधं च जगत्स्वामी नीयतामच्युतो लघु॥86॥

3. **दारु ब्रह्म**—जगन्नाथ या ब्रह्म के विविध रूपों की उपमा दारु से दी जाती है।

(1) **सृष्टि निर्माण की सामग्री**, उसका आधार, निर्मित पदार्थ आदि सभी ब्रह्म है, जैसे वृक्ष वन में है, उससे काट छांट कर घर, सामग्री आदि बनते हैं।

किं स्विद् वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावा पृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृचतेदु तत् यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥
(ऋक्, 10/81/4, तैत्तिरीय ब्राह्मण, 2/8/9/15, तैत्तिरीय संहिता, 4/6/2/12)

ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत् यतो द्यावा पृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥
(तैत्तिरीय ब्राह्मण, 2/8/9/16)

इस अर्थ में ब्रह्म को सुकृत् कहा गया है, जो कर्ता, कर्म, सामग्री, निर्माण आदि सब कुछ है।

असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानँ स्वयमकुरुत तस्मात्तत्सुकृतम् उच्यत इति। *(तैत्तिरीय उपनिषद्, 2/7/1)* = स्वयं ही निर्माण किया अतः सुकृत् कहते हैं।

ताभ्यः पुरुषम् आनयत् ता अब्रुवन्-सुकृतं बत इति। पुरुषो वाव सुकृतम्। ता अब्रवीत्-यथा आयतनं प्रविशत इति। *(ऐतरेय उपनिषद्, 1/2/3)* = उससे पुरुष लाये और कहा कि यही सुकृत् है। यह सभी में प्रवेश करता है।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥ *(गीता, 4/24)*

= ब्रह्म ही अर्पण, हवि, अग्नि, हवन करने वाला, कर्म, तथा अन्तिम क्रिया है और अन्त में सभी ब्रह्म में ही मिलते हैं।

(2) **वृक्ष का वन रूप**—एक वृक्ष का जन्म मरण आदि होता है। किन्तु वन में कुल वृक्ष संख्या समान रहती है। इसी प्रकार जगत् में सदा पूरुष का 1/4 भाग विश्व बना रहता है।

(3) **जीवन का स्रोत**—वृक्षों से उत्पन्न अन्न द्वारा ही जीवों का निर्माण तथा पालन होता है। उसी प्रकार जगन्नाथ जीवन के मूल स्रोत हैं।

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नं अभिजायते।
अन्नात् प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम्॥ *(मुण्डक उपनिषद्, 1/1/8)*

आकाशाद् वायुः, वायोः अग्निः, अग्नेः आपः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधीभ्यो अन्नः, अन्नात् पुरुषः। *(तैत्तिरीय उपनिषद्, 2/1/1)*

(4) **निरपेक्ष द्रष्टा**—निर्विशेष ब्रह्म रूप में जगन्नाथ कुछ करते नहीं हैं, केवल देख रहे हैं, जिस रूप को साक्षी सुपर्ण भी कहा है। इसी प्रकार मार्ग पर स्थित वृक्ष लोगों को चलते हे देखता है।

यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित्, यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥ ***(श्वेताश्वतर उपनिषद्, 3/9)***

(5) **सृष्टि निर्माण का क्रम**—मूल को ऊर्ध्व तथा उससे विभिन्न प्रकार की निर्माण दिशाओं को शाखा कहा है। यह अविनाशी अश्वत्थ है, अर्थात् क्रिया चलती रहती है। कोई एक वस्तु या पिण्ड वृक्ष के पत्ते की तरह झड़ जाता है, वृक्ष बना रहता है।

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्। *(गीता, 15/1)*

(6) **कर्म वासना**—वृक्ष में बीज, अंकुर, वृक्ष, फल आदि का क्रम शाश्वत है। इसी प्रकार मनुष्य का कर्म और वासना चक्र शाश्वत है-संकल्प, क्रिया, फल, उसमें वासना। मुक्ति के लिए इस वृक्ष को काटना पड़ता है।

वासना वशतः प्राणस्पन्दस्तेन च वासना।
क्रियते चित्तबीजस्य तेन बीजाङ्कुरक्रमः॥26॥
द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य प्राणस्पन्दनवासने।
एकस्मिँश्च तयोः क्षीणे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः॥27॥

द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य वृत्तिव्रततिधारिणः।
एक प्राण परिस्पन्दो द्वितीयं दृढ़भावना॥48॥ *(मुक्तिकोपनिषद्, अध्याय 2)*
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥2॥
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते, नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढ़मूलमसङ्गशस्त्रेण दृढ़ेन छित्वा॥3॥ *(गीता, अध्याय 15)*

4. **जगन्नाथ के अन्य रूप**—इनका निर्देश भागवत पुराण में है जो विस्तार से वेदों में भी वर्णित है—

तत्र गत्वा जगन्नाथं वासुदेवं वृषाकपि।
पुरुषं पुरुषसूक्तेन उपतस्थे समाहिताः॥ *(भागवत पुराण, 10/1/20)*

पृथ्वी पर असुरों का अत्याचार बढ़ गया तो पृथ्वी रूपी गौ ब्रह्मा जी के साथ, जगन्नाथ के पास गयी जो वासुदेव, वृषाकपि, तथा पुरुष भी हैं। गौ का अर्थ 3 तत्त्व युक्त हैं—(क) इन्द्रिय-कर्म, ज्ञान, मन, (ख) किरण-तेज, गति, ज्ञान, (ग) यज्ञ-वेदी, कर्ता, पदार्थ। (घ) पृथ्वी-यज्ञ अर्थात् उत्पादन, स्थान, चक्रीय गति (दिन, मास. वर्ष आदि)।

अथैष गोसवः स्वाराजो यज्ञः। *(ताण्ड्य महाब्राह्मण, 19/13/1)*
इमे वै लोका गौः यद् हि किं अ गच्छति इमान् तत् लोकान् गच्छति।
(शतपथ ब्राह्मण, 6/1/2/34)
इमे लोका गौः। *(शतपथ ब्राह्मण, 6/5/2/17)*
धेनुरिव वाऽइयं (पृथिवी) मनुष्येभ्यः सर्वान् कामान् दुहे माता धेनुर्मातेव वाऽइयं (पृथिवी) मनुष्यान् बिभर्त्ति। *(शतपथ ब्राह्मण, 2/2/1/21)*

पिण्ड रूप में पृथ्वी पर 7 समुद्र हैं। गो रूप में उत्पादन के 4 स्रोत 4 समुद्र हैं-(क) स्थल मण्डल, (ख) जल मण्डल, (ग) वायु मण्डल. (घ) जीव मण्डल (जीव, वृक्ष)। (*वायु पुराण, उत्तर*, 1/168-186)-*पयोधरी भूतचतुः समुद्रां जुगोप गोरूप धरामिवोर्वीम्।* (*रघुवंश*, 2/3)

विष्णु यज्ञ रूप हैं, अतः असुरों द्वारा यज्ञ में बाधा होने पर विष्णु के पास गये, जिनके जाग्रत रूप जगन्नाथ हैं।

(1) **पुरुष**—यह रूप पुरुष सूक्त में वर्णित है, अतः पुरुष सूक्त से उनकी स्तुति हुई। पुरुष सूक्त के कुछ रूपों के क्रम हैं-(1) पुरुष = 4 पाद का मूल स्वरूप, (2) सहस्रशीर्ष-उससे 1000 प्रकार के सृष्टि विकल्प या धारा, (3) सहस्राक्ष = हर स्थान अक्ष या केन्द्र मान सकते हैं, (3) सहस्रपाद-3 स्तरों की अनन्त पृथ्वी, (4) विराट् पुरुष-दृश्य जगत् जिसमें 4 पाद में 1 पाद से ही सृष्टि हुई। 1 अव्यक्त से 9 प्रकार के व्यक्त हुए

जिनके 9 प्रकार के कालमान सूर्य सिद्धान्त (15/1) में दिये हैं। अतः विराट् छन्द के हर पाद में 9 अक्षर हैं। (5) अधिपूरुष (6) देव, साध्य, ऋषि आदि, (6) 7 लोक का षोडषी पुरुष, (7) सर्वहुत यज्ञ का पशु पुरुष, (8) आरण्य और ग्राम्य पशु, (9) यज्ञ पुरुष (10) अन्तर्यामी आदि।

(2) **वासुदेव**—पाञ्चरात्र दर्शन के अनुसार सृष्टि के 4 क्रम हैं-वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध। सूर्य सिद्धान्त के अध्याय 12 में सांख्य, पाञ्चरात्र, पुरुष सूक्त को मिला कर सृष्टि की व्याख्या है। रामानुजाचार्य जी ने 4 व्यूह रूप में इनकी व्याख्या है। सृष्टि क्रम के अनुसार इन के अर्थ हैं-(क) वासुदेव = सृष्टि का वास रूप आकाश, (ख) सङ्कर्षण = सभी के परस्पर आकर्षण से बड़े द्रप्स (ब्रह्माण्ड, उनके भीतर तारा गण)-(ऋक्, 6/41/3, 7/87/6, वाज, 1/26, 7/26 आदि), (ग) प्रद्युम्न = प्रकाशित। जब तारा पिण्ड गर्म हो कर प्रकाश देने लगे। (घ) अनिरुद्ध-अनन्त रूप जिनको चित्राणि कहा गया है (वाज. यजु, 25/9, अथर्व, 19/7/1, ऋक्, 4/22/10, 4/32/5 आदि)। अतः संवत्सर चक्र के प्रथम मास को चैत्र कहते हैं। चान्द्र मास की परिभाषा अनुसार इस मास की पूर्णिमा तिथि को चन्द्र चित्रा नक्षत्र में रहेगा। किन्तु चित्रा एकमात्र नक्षत्र है, जिसमें केवल 1 ही तारा है।

(3) **वृषाकपि**—इसका अर्थ कई प्रकार से किया गया है, पुरुष वानर (वृषा = पुरुष, कपि = वानर), इन्द्र का मित्र जिसके साथ मद्यपान करने के कारण इन्द्राणी क्रुद्ध हुयी थी (ऋक्, 10/86).

सृष्टि प्रसंग में इसका अर्थ है कि अप् के समुद्रों से द्रप्स रूप विन्दुओं की वर्षा होती है, इस रूप में स्रष्टा को वृषा कहते है। इसके लिए वह 'क' = जल का पान करता है, अतः कपि है।

तद् यत् कम्पाय-मानो रेतो वर्षति तस्माद् वृषाकपिः, तद् वृषाकपेः वृषा कपित्वम्। ...
आदित्यो वै वृषाकपिः। *(गोपथ ब्राह्मण, उत्तर, 6/12)*
असौ वा आदित्यो द्रप्सः *(शतपथ ब्राह्मण, 7/4/1/20)*
स्तोको वै द्रप्सः। *(गोपथ ब्राह्मण, उत्तर, 2/12)*
एष द्रप्सो वृषभो विश्वरूप इन्द्राय वृष्णे समकारि सोमः॥ *(ऋक्, 6/41/3)*
अव सिन्धुं वरुणो द्यौरिव स्याद् द्रप्सो न श्वेतो मृगस्तुविष्मान्। *(ऋक्, 6/87/6)*
द्रप्सश्चस्कन्द प्रथमाँ अनु द्यूनिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः *(ऋक्, 10/17/11)*
यस्ते द्रप्सः स्कन्दति यस्ते अंशुर्बाहुच्युतो धिषणाया उपस्थात्। *(ऋक्, 10/17/12)*

यहां वृषा कपि का सहयोगी तेज रूप इन्द्र है, जिसकी सहायता से वह अप् या सोम पान कर सृष्टि करता है। अन्य अर्थ है, कि सदा पहले जैसी सृष्टि होती है, अतः नकल करने वाले पशु को कपि कहते हैं—

प्रथमं सर्वशास्त्राणां पुराणं ब्रह्मणा स्मृतम् ।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः॥ *(वायु पुराण, 1/61, मत्स्य पुराण, 53/3)*

सूर्या चन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्। *(ऋक्, 10/190/3)*

5. **जगन्नाथ क्षेत्र**-(1) परात्पर पुरुष रूप में सम्पूर्ण जगत् और उसका अव्यक्त स्रष्टा जगन्नाथ हैं। अनुभव योग्य रूप अव्यय पुरुष है। यह क्षर और अक्षर दोनों से उत्तम होने के कारण पुरुषोत्तम है। जगन्नाथ के 2 मुख्य अवतारों में श्री राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं, जिन्होंने कभी पुरुष की सीमा नहीं पार की। श्रीकृष्ण ने जन्म लेते ही कई चमत्कार किये, अतः उनको भगवान् कहते हैं- अन्ये चांश कला भूताः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। पुरुषोत्तम रूप में जगन्नाथ प्रथित हैं, अतः एक का विशेषण प्रथम होता है, और गिनती आरम्भ करने के लिए एक के बदले पुरुषोत्तम राम कहते हैं।

यस्मात् क्षरमतीतोऽहं अक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ *(गीता, 15/15)*

(2) **जगन्नाथ धाम**-वेद रूपी ज्ञान का केन्द्र होने से भारत विश्व का हृदय है। हृदय का प्रचलित संकेत भी भारत के मुख्य खण्ड का नक्शा है। दक्षिण भाग अधोमुख त्रिकोण है, उत्तर भाग अर्धचन्द्राकार हिमालय है। दोनों को मिलाने पर हृदय का प्रचलित संकेत चिह्न बनता है। भारत का हृदय स्थान पुरी है, जो 9 खण्डों के भारतवर्ष का उत्तर-दक्षिण और पूर्व पश्चिम दिशा में केन्द्र भाग है। विश्व को नियन्त्रित करने के लिए जगन्नाथ उसके हृदय में रहते हैं, अतः भारत के हृदय स्थान पुरी में जगन्नाथ का स्थान है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति (*गीता*, 18/61) उषा सूक्त में धाम का अर्थ विषुव वृत्त का 720 भाग है (उषा वरुण की पश्चिम दिशा में 30 धाम चलती है, सूर्योदय से 15 अंश तक पूर्व उषा काल है)। अतः 1 धाम 40,000 /720 = 55.5 किमी है। अतः जगन्नाथ मन्दिर से 5 योजन = 55.5 किमी (1 धाम) उत्तर और उतना ही दक्षिण तक जगन्नाथ धाम है।

स्कन्दपुराण, वैष्णव, ऊत्कल खण्ड, अध्याय 3-

पञ्चक्रोशमिदं क्षेत्रं समुद्रान्तर्व्यवस्थितम्।
द्विक्रोशं तीर्थराजस्य तट भूमौ सुनिर्मलम्॥52॥
सुवर्ण बालुकाकीर्णं नीलपर्वतशोभितम्।
योऽसौ विश्वेश्वरो देवः साक्षान्नारायणात्मकः॥53॥

अध्याय 1-

अहो तत् परमं क्षेत्रं विस्तृतं दश योजनम्॥11॥
नीलाचलेन महता मध्यस्थेन विराजितम्॥12॥
सागरस्योत्तरे तीरे महानद्यास्तु दक्षिणे॥31॥
एकाम्रकाननाद् यावद् दक्षिणोदधि तीरभूः॥33॥

ब्रह्म पुराण, अध्याय 43-

दक्षिणस्योदधेस्तीरे न्यग्रोधो यत्र तिष्ठति।
दशयोजनविस्तीर्णं क्षेत्रं परम दुर्लभम्॥53॥

यह शंख जैसा आकार होने के कारण शंख क्षेत्र है। कम्बोडिया भी कम्बुज = शंख है। जापान को पञ्चजन अर्थात् 5 द्वीपों का समूह कहा गया है (जम्बू द्वीप के उपद्वीप, भागवत पुराण, 5/19/29-30)। वहां का शंख पाञ्चजन्य था जो विष्णु भगवान् का है।

(3) **रथ यात्रा**—गतिशील पुर को रथ कहते हैं। सौर मण्डल में शनि तक के ग्रहों की गति का प्रभाव हम तक आता है, अतः वहां तक के ग्रहों का चक्र सूर्य रथ का चक्र है। यह 1,000 योजन दूर है (परिधि = 9000 योजन, त्रिज्या 1423.7, सूर्य व्यास = योजन). इसे पुरुष सूक्त में सहस्राक्ष कहा गया है (अक्ष = आंख, या धुरी)। इसके भीतर शनि तक के ग्रहों का संयुक्त चक्र ज्योतिषीय युग है (43,20,000 वर्ष)। अहर्गण माप में यह 20 से कुछ अधिक है (पृथ्वी त्रिज्या × 2 घात (20-3)) अतः 20 अंश उत्तर अक्षांश पर रथ यात्रा होती है।

रथ यात्रा तथा उसके लौटने का चक्र दशमी तक है। सृष्टि के 9 सर्ग हैं, अव्यक्त को मिला कर 10 चक्र। हर चक्र का काल 1 रात्रि है, रात्रि अर्थात शान्त स्थिति में ही सृजन होता है। इसे दशम अहः, संवत्सर भी कहा है।

अथ यद् दशमं अहः उपयन्ति। संवत्सरमेव देवतां यजन्ते।
*(शतपथ ब्राह्मण, **12/1/3/20**)*
श्रीः वै दशमं अहः *(ऐतरेय ब्राह्मण, **5/22**)*
मितं एतद् देव कर्म यद दशमं अहः *(कौषीतकि ब्राह्मण, **27/1**)*
अथ यद् दशरात्रं उपयन्ति। विश्वान एव देवान देवतां यजन्ते।
*(शतपथ ब्राह्मण, **12/1/3/17**)*
एवा नूनं उप स्तुहि वैयश्व दशमं नवम् *(ऋक्, **8/24/23**, अथर्व, **20/66/2**)*

9 व्यक्त स्तरों के ऊपर दशम अव्यक्त। मनुष्य का गर्भ में जन्म चन्द्र की 10 परिक्रमा (273 दिन) में होता है। प्रेत शरीर चन्द्र मण्डल का है, उसका जन्म पृथ्वी की 10 परिक्रमा में होता है।

7. **जगन्नाथ परम्परा**-(1) अदिति के पुत्र वामन का ही नाम विष्णु था। उस समय अदिति के नक्षत्र पुनर्वसु से वर्ष का अन्त और नये वर्ष का आरम्भ होता था। आज भी शान्ति पाठ में कहते हैं-अदितिर्जातम्, अदितिर्जनित्वम् (ऋक्, 1/89/10 आदि)। यह 17500 ई.पू. में था।

(2) वराह अवतार में इन्द्रनीलमणि की मूर्ति बनती थी—*स्कन्द पुराण*, वैष्णव, उत्कल खण्ड, अध्याय 2.

दंष्ट्रोद्धृतक्षितिभृते त्रयीमूर्तिमते नमः।
नमो यज्ञवराहाय चन्द्र-सूर्या-ग्नि-चक्षुषे ॥23॥
नरसिंहाय दंष्ट्रोग्रमूर्तिद्रावितशत्रवे।
यदपाङ्गविलासैकसृष्टिस्थित्युपसंहृतिः॥24॥
तममुं नीलमेघाभं नीलाश्ममणि विग्रहम्॥25॥

(3) कार्त्तिकेय समय में अभिजित् का पतन हुआ और धनिष्ठा से वर्ष आरम्भ हुआ (*महाभारत*, वन पर्व, 230/8-10)। यह प्रायः 15800 ई.पू. में हुआ। धनिष्ठा से ऋक ज्योतिष में वर्ष आरम्भ होता है, जिसमें 19 वर्ष का युग होता है। अतः 19 वर्ष बाद नव कलेवर होता है। कार्त्तिकेय काल में माघ शुक्ल सप्तमी को क्रौञ्च विजय उपलक्ष्य में रथ यात्रा आरम्भ हुई। (*स्कन्द पुराण*, माहेश्वर खण्ड, कुमारिका खण्ड, अध्याय 35)

(4) वैवस्वत यम के काल में जल प्रलय के काल में नील मूर्ति बालू में दब गयी। जल प्रलय के समय का आधुनिक अनुमान भी वही है—प्रायः 10,000 ई.पू.। *ब्रह्म पुराण*, अध्याय 43.

इन्द्रनीलमयी श्रेष्ठा प्रतिमा सार्वकामिकी॥71॥
यम तां गोपयिष्यामि सिकताभिः समन्ततः॥74॥
लुप्तायां प्रतिमायां तु इन्द्रनीलस्य भो द्विजाः॥77॥

(5) इन्द्रद्युम्न द्वारा उद्धार-जल प्रलय के बाद सत्ययुग (9102 ई.पू.) के पूर्व सूर्य वंशी राजा इन्द्रद्युम्न द्वारा विद्यापति शबर की सहायता से नरसिंह की मूर्ति खोजी गई। उसके बाद दारु (काठ) मूर्ति का पूजन आरम्भ हुआ। *स्कन्द पुराण*, वैष्णव, उत्कल खण्ड, अध्याय 7.

आसीत् कृतयुगे विप्रा इन्द्रद्युम्नो महानृपः।
सूर्यवंशे स धर्मात्मा स्रष्टुः पञ्चमपुरुषः॥6॥

(6) इक्ष्वाकु वंश-इक्ष्वाकु (1-11-8576 ई.पू) से भगवान् राम तक जगन्नाथ उनके कुलदेवता रहे। यह सूर्यवंशी इन्द्रद्युम्न परम्परा में था। राम ने निर्वाण के पूर्व विभीषण को जगन्नाथ पूजा का भार दिया। अतः विभीषण के बड़े भाई रावण का *उड्डीश तन्त्र* यहां प्रचलित था। *वाल्मीकि रामायण*, उत्तरकाण्ड, अध्याय 108.

आराधय जगन्नाथमिक्ष्वाकु-कुल-दैवतम्॥28॥
तथेति प्रतिजग्राह रामवाक्यं विभीषणः।
राजा राक्षसमुख्यानां राघवाज्ञामनुस्मरन्॥29॥

(7) खारावेल काल-खारावेल के उदयगिरि शिलालेख अनुसार नन्द अभिषेक (1634 ईपू) के 803 (त्रि-वसु-शत) वर्ष बाद उनके राज्य का चतुर्थ वर्ष था। अर्थात् 835 ईपू में उनका शासन आरम्भ हुआ। राज्य के तृतीय वर्ष में गन्धर्व वेद के विद्वानों को बुलाया तथा प्राचीन विद्याधर निवास की मरम्मत करायी। ये दोनों जगन्नाथ पूजा से सम्बन्धित है (इन्द्रद्युम्न काल में विद्यापति शबर ने मूर्ति खोजी थी)।

(8) शङ्कराचार्य काल (509-477 ईपू)-483 ईपू. में राजा सुधन्वा की सहायता से पुरी के गोवर्धन पीठ सहित 3 अन्य पीठों की स्थापना हुई। पुरी के शंकराचार्य को मुख्य पूजक तथा पुरी राजा को मुख्य सेवक कहा गया। इसके अतिरिक्त केवल नेपाल राजा को राजा रूप में दर्शन की अनुमति मिली क्योंकि तत्कालीन नेपाल राजा वृषदेव वर्मन ने मन्दिर स्थापना में सहायता की थी।

(9) हर्षवर्धन काल (605-647 ई)—इस काल में हर्षवर्धन का ओड़िशा पर अधिकार था अतः उसने 637 ई तथा 642 ई. में नव कलेवर का आयोजन किया। पूर्व के लोकपाल इन्द्र हैं, अतः असम के राजा भास्करवर्मन् इसमें इन्द्र रूप में सम्मिलित हुए थे।

(10) राजा अनङ्ग भीमदेव ने प्रायः 1100 ई. में वर्तमान जगन्नाथ मन्दिर का निर्माण किया। मन्दिर में प्राण प्रतिष्ठा के लिये रामानुजाचार्य (1017-1137 ई.) आये थे। जगन्नाथ-स्थल-वृत्तान्तम् (जगन्नाथ संस्कृत विश्वविद्यालय, पुरी, 2005) के अनुसार यह 3 वर्ष में 12.47 करोड़ स्वर्ण मुद्रा खर्च से बना था। इसके लिये मिट्टी भर कर भूमि उठाई गयी जिसमें पुराने मन्दिर का एक शिखर प्रायः डूबा हुआ है। उस समय ओड़िशा राज्य की वार्षिक आय 50 करोड़ स्वर्ण मुद्रा थी। पूरे भारत से आये तीर्थयात्रियों के लिये निःशुल्क भोजन और चिकित्सा की व्यवस्था थी।

(11) मुस्लिम तथा ब्रिटिश शासन काल में रथ यात्रा प्रतिबन्धित हुई या दर्शन के लिए भारी कर देना पड़ता था। 1751 से 1803 ई. तक मराठा शासन में जगन्नाथ यात्रा सभी हिन्दुओं के लिये सुलभ तथा कर-मुक्त हो गई। 1803 ई. में अंग्रेजों ने ओड़िशा पर अधिकार करते ही 1806 से लोथियन कमिटी की रिपोर्ट के अनुसार तीर्थयात्रियों पर भारी कर लगा दिया। यात्रियों को 4 श्रेणियों में बांटा-उत्तर के धनी (लाल) यात्रियों पर 10 रुपये प्रति व्यक्ति, (2) दक्षिण के धनी यात्रियों पर 6 रुपये, (3) मध्यम वर्ग से 2 रुपये, (4) निम्न वर्ग का प्रवेश मना तथा कोई फीस नहीं।

(12) 1947 ई. में स्वाधीनता के बाद रथ यात्रा या दर्शन के लिए कोई कर नहीं है।

C-47 Palaspalli
P.O. Bhuvaneswar (Orrissa)
Pin. 751020
Mob : 9437034122.

स्त्री है लक्ष्मी-सरस्वती

आचार्य गुलाब कोठारी

स्त्री लक्ष्मी है, सरस्वती है, कमलासना है। परमेष्ठी लोक इनका उद्भव है। स्वयंभू पिता, परमेष्ठी माता है। अत्रि भ्राता है। सरस्वती नाद है—आकाश का जनक है जो प्रथम महाभूत है। लक्ष्मी अर्थ है—पृथ्वी। पृथ्वी पांचवा महाभूत है। इसमें शेष चार महाभूत समाहित हैं। सरस्वती ही लक्ष्मी का आलम्बन है। सरस्वती परा है, चेतना है। लक्ष्मी जड़ है, अपरा है। पुरुष में अग्नि प्रकट है—बुद्धि प्रधान है। स्त्री सोम है—पदार्थ (वाक्) है। गर्भाधान काल में जहां शुक्र-शोणित समान भाव में रहते हैं, वहां सन्तान नपुंसक होती है। शुक्र की बहुलता से पुरुष, शोणित की बहुलता से स्त्री सन्तान उत्पन्न होती है। नपुंसक की सत्ता नहीं होती। ब्रह्म विवर्त में सहायक नहीं हो सकता।

एक अन्य परिस्थिति में नि:सन्तान स्त्री होती है। मूल कारण तो प्रारब्ध ही होता है। निमित्त कई हो सकते हैं। संस्कारवान स्त्री के लिए यह एक बड़ा अभाव है। इसी सपने की पूर्ति के लिए तो विवाह किया था। जीवन का यह असह्य अभाव है। सात्विक भाव में बच्चों का सहारा बन जाना, राजसिक रूप में बच्चा गोद लेकर कृत्रिम सुख का प्रयास करना भी इस अभाव की पूर्ति का मार्ग हो सकता है। तामसिक धरातल पर विकल्प की सहायता से सन्तान उत्पन्न करके मातृ-सुख के अभाव की पूर्ति कर लेना भी एक मार्ग है। स्वच्छन्दता इसका आसुरी स्वरूप है।

आज की समस्या का मूल अज्ञान है। शिक्षा में जानकारियां हैं, प्रज्ञा नहीं है, जीवन दृष्टि नहीं है। शिक्षा भौतिकवाद, उपभोक्तावाद की प्रेरक है, मार्गदर्शक है। इसमें शरीर भी एक उत्पाद ही है और भोग्य सामग्री बना हुआ ही जीता है। जीता भी कहां है! उम्र ही बढ़ती है बस, आत्मा के क्रिया-कलाप तो लगभग शून्य ही हैं। वहां प्रकृतिजन्य ऋणानुबन्ध की गतिविधियां तो रहती हैं, किन्तु इनके स्वरूप की जागरुकता नहीं रहती। जहां पुरुष का सौम्य अंश अल्प है, वहां जीवन एकपक्षीय और असंतुलित रह जाता है। स्त्री का पौरुष अधिक बढ़ जाए तो उसका सोम अंश भी अल्प हो जाता है। पुरुष अति पौरुषीय तथा स्त्री अल्प स्त्रैण रह जाती है। विष्णु यदि अति-पौरुषेय तथा लक्ष्मी यदि अल्प सौम्या हो जाए तो सृष्टि का स्वरूप कैसा होगा!

पुरुष प्रजापति अपने अर्द्धभाग से पुरुष, अर्द्धभाग से प्रकृति बना हुआ है। पुरुष प्रजापति अव्ययात्मक मन, अक्षरात्मक प्राण, क्षरात्मक वाक् रूप त्रिपुरुष है। अत: प्रकृति रूपा शक्ति भी तीन रूप ही बनती है- पर, परावर तथा अवर शक्ति। पुरुष-प्रकृति रूप अमृत-मृत्युरूप प्रजापति का अव्यय रूप मनोभाग सूक्ष्मतम

है, प्राणभाग सूक्ष्मतर है, वाक् भाग सूक्ष्म है। इन तीनों रूपों से क्रमश: विश्व का अधिष्ठान-निमित्त-उपादान बनता है। मनोभाग से वही विश्व आलम्बन, प्राण भाग से निमित्त, वाक् भाग से वही उपादान बन रहा है। 'उस पर' (अव्यय), 'उससे' (अक्षर), 'वही' (क्षर) विश्वरूप है। क्षर कला ही आकाश है। बल रूप चिति के तारतम्य से पांच महाभूतों में परिणत होता है। इनके छान्दोमय सुसूक्ष्म अण्डात्मक पुर ही क्रमश: स्वयंभू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथ्वी हैं।

सर्वप्रथम अव्यक्ता वाक् ही सर्वत्र व्याप्त थी। इसी से प्रजा कामना की पूर्ति के लिए अप् तत्त्व उत्पन्न हुआ।

सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधा: प्रजा:।
अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत् ॥ *(मनु 1/8)*

यही सुसूक्ष्म अप्तत्त्व (जल) रूप आपोमय समुद्र सरस्वान् कहलाया। यही वाङ्मयी-आम्भृणी-शक्ति-भूतप्रसवा लक्ष्मी कहलाई। सभी स्थावर-जंगम इसी वाग्देवी (आपोमयी) से उत्पन्न हुए। लक्ष्मी लक्षणा-सरस्वती गर्भिता, अव्यक्त काली मूला यही वाग्देवी सर्वत्र व्याप्त है। ज्ञानशक्ति महाकाली है। यह मुक्ति की अधिष्ठात्री है। यह अव्ययात्मक मनोमय अक्षर से जुड़ी है। क्रिया शक्ति महासरस्वती है। भुक्ति-मुक्ति की अधिष्ठात्री है। प्राणमय मध्यस्थ अक्षर से इसका सम्बन्ध है। अर्थशक्ति ही महालक्ष्मी है। क्षररूप, वाङ्मय अक्षर से सम्बन्ध है। मन काली पर, प्राण सरस्वती पर, वाक् लक्ष्मी पर प्रतिष्ठित है।

स्वयंभू-परमेष्ठी-सूर्य तीनों की समष्टि अमृत विश्व है। इसे मानव के अमृत-विज्ञान रूपी 'आत्मभाव' से समन्वित कहा है। इसका स्वयंभू पर्व ज्ञानशक्ति महाकाली से, परमेष्ठी की क्रियाशक्ति महासरस्वती से, सूर्य की अर्थशक्ति महालक्ष्मी से समन्वित है। तीनों की समष्टि के रूप में अमृत विश्व की तीनों शक्तियों से युक्त अधिष्ठात्री 'श्री' कहलाई। इसी के द्वारा आत्मा की अनुगत विद्या बुद्धि (धर्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य) सम्पत्तियां व्यवस्थित हुईं।

इन्हीं तीनों शक्तियों का मर्त्य विश्व में भी मर्त्य पर्व है। मर्त्य सूर्य (सूर्य का ऊपरी अर्द्धांश अमृत कहा जाता है, नीचे वाला अर्द्धांश मर्त्य है), चन्द्रमा, पृथ्वी तीनों मर्त्य विश्व हैं। इनमें मानव की लोक बुद्धि-कारण शरीर, प्रज्ञानमन-सूक्ष्म शरीर, भौतिक शरीर-स्थूल तीनों की व्यवस्थापिका, प्रवर्तिका मानी गई है। सूर्य-चन्द्र-पृथ्वी का मर्त्यविश्व पर्व तीनों की ज्ञान, क्रिया, अर्थ शक्ति से समन्वित है, जिसे 'लक्ष्मी' कहा है। इसके द्वारा मन, बुद्धि, शरीर की लोकसमृद्धि व्यवस्थित हुई। त्रिरूपा लक्ष्मी की प्रतिष्ठा आत्म भाव की त्रिरूपा 'श्री' ही है। तभी लक्ष्मी का प्रभाव होता है। इसके अभाव में मानव का तम-मूलक आसुरी भाव प्रधान हो जाता है। अमृत-आत्मा के आधार के अभाव में बुद्धि 'अविद्याबुद्धि' (अविद्या-अस्मिता-आसक्ति-अभिनिवेश) बन जाती है।

पंचपर्वा विश्व अग्नि (अन्नाद) सोम (आद्य) युक्त है। ब्रह्माग्नि का संबंध ब्रह्म नि:श्वसित स्वयंभू वेद से, सावित्राग्नि का गायत्री सौर वेद से, गायत्राग्नि का यज्ञमात्रिक पार्थिव वेद से संबंध है। ब्रह्मणस्पति सोम अम्भ:-पवमान-पावक से नित्य जुड़ा, पवित्र रूप दिव्यसोम परमेष्ठी का सोम है। दूसरा वृत्र सोम ही भास्वर सोम है। वृत्रासुर का इन्द्र द्वारा वध किया गया। उसके सौम्य भाग से चन्द्रमा को रूप प्रदान किया। प्रथमभूत आसुर भाव से पार्थिव प्रजा की जठराग्नि से समन्वित कर दिया।

स्वयंभू का अग्नि सत्याग्नि है। सौर गायत्री मात्रिक अग्नि देवाग्नि तथा पार्थिव अग्नि भूताग्नि है। सौराग्नि का प्रवर्ग्य भाग (उच्छिष्ट अथवा छिटका हुआ) कृष्ण रूप में अग्नि 'भ्रातर:' कहलाता है। स्वयंभू का सत्याग्नि 'पलितवाम' कहलाता है। एक ही अग्नि सत्य-देव-भूत रूप तीन भावों में बदलता है। तीन अग्नि-सत्याग्नि, देवाग्नि तथा भूताग्नि और दो सोम- दिव्य सोम तथा भास्वर सोम (ब्रह्मणस्पति एवं वृत्र) की समष्टि का नाम ही पंचपर्वा विश्व है।

अम्भ: - जल की सूक्ष्म अवस्था
पवमान - शुद्ध सोम (छनकर शुद्ध हुआ)
पावक - आदित्य अग्नि

प्रधान सम्पादक
राजस्थान पत्रिका समूह
केशरगढ़, जयपुर (राजस्थान)
gulabkothari@epatrika.com

दस महाविद्याओं में भगवती काली का स्वरूप और साहित्य विमर्श

प्रोफेसर राजेन्द्र प्रसाद शर्मा

विद्यास्वरूपा महाशक्ति

महाशक्ति विद्या और अविद्या दोनों ही रूप में विद्यमान हैं। अविद्या-रूप में वे प्राणियों के मोह की कारण हैं तो विद्या-रूप में मुक्ति की। शास्त्र और पुराण उन्हें विद्या के रूप में और परम-पुरुष को विद्यापति के रूप में मानते हैं। वेद तथा अन्यान्य शास्त्रों के रूप में विद्या का प्रकट रूप और आगमादि के रूप में विद्वानों एवं साधकों द्वारा गुप्त रूप में संकेतित है। वैष्णवी और शाम्भवी-भेद से दोनों की ही शरणागति परम लाभ में हेतु है। आगमशास्त्रों में यद्यपि गुह्य गुरुमुखगम्य अनेक विद्याओं के रूप, स्तव और मन्त्रादिकों का विधान है, तथापि उनमें दस महाविद्याओं की प्रधानता तो स्पष्ट प्रतिपादित हैं, जो जगन्माता भगवतीसे अभिन्न हैं—

साक्षाद् विद्यैव सा न ततो भिन्ना जगन्माता।
अस्याः स्वाभिन्नत्वं श्रीविद्याया रहस्यार्थः॥ — *वरिवस्यारहस्यम् 2/107*

महाविद्याओं का प्रादुर्भाव कथा

दस महाविद्याओं का सम्बन्ध परम्परातः सती, शिवा और पार्वती से है। ये ही अन्यत्र नवदुर्गा, शक्ति, चामुण्डा, विष्णुप्रिया आदि नामों से पूजित और अर्चित होती हैं। महाभागवत में कथा आती है कि दक्ष प्रजापति ने अपने यज्ञ में शिव को आमन्त्रित नहीं किया। सती ने शिव से उस यज्ञ में जाने की अनुमति माँगी। शिव ने अनुचित बताकर उन्हें जाने से रोका, पर सती अपने निश्चय पर अटल रहीं। उन्होंने कहा—'मैं प्रजापतिके यज्ञ में अवश्य जाऊँगी और वहाँ या तो अपने प्राणेश्वर देवाधिदेव के लिये यज्ञभाग प्राप्त करूँगी या यज्ञ को ही नष्ट कर दूँगी। यह कहते हुए सतीके नेत्र लाल हो गये। वे शिव को उग्र दृष्टि से देखने लगीं। उनके अधर फड़कने लगे, वर्ण कृष्ण हो गया। क्रोधाग्निसे दग्ध-शरीर महाभयानक एवं उग्र दीखने लगा। उस समय महामायाका विग्रह प्रचण्ड तेज से तमतमा रहा था। शरीर वृद्धावस्था को सम्प्राप्त-सा, केशराशि बिखरी हुई, चार भुजाओं से सुशोभित वे महादेवी पराक्रम की वर्षा करती-सी प्रतीत हो रहीं थीं। कालाग्नि के समान महाभयानक रूप में देवी मुण्डमाला पहने हुई थीं और उनकी भयानक जिह्वा बाहर निकली हुई थी। शीश पर अर्धचन्द्र सुशोभित था और उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व विकराल लग रहा था। वे बार-बार विकट हुंकार कर रही थीं। देवी का यह स्वरूप साक्षात् महादेव के लिये भी भयप्रद और प्रचण्ड था। उस समय उनका श्रीविग्रह करोड़ों मध्याह्न के सूर्य के समान तेजः सम्पन्न था और वे

बारंबार अट्टहास कर रही थीं। देवी के इस विकराल महाभयानक रूप को देखकर शिव भाग चलें। भागते हुए रुद्र को दसों दिशाओं में रोकने के लिये देवीने अपनी अङ्गभूता दस देवियों को प्रकट किया। देवी की ये स्वरूपा शक्तियाँ ही दस महाविद्याएँ हैं, जिनके नाम हैं—काली, तारा, छिन्नमस्ता, धूमावती, बगलामुखी, कमला, त्रिपुर भैरवी, भुवनेश्वरी, त्रिपुरसुन्दरी और मातङ्गी।

शिवने सती से इन महाविद्याओं का जब परिचय पूछा, तब संतों ने स्वयं इसकी व्याख्या करके उन्हें बताया—

येयं ते पुरतः कृष्णा सा काली भीमलोचना।
श्यामवर्णा च या देवी स्वयमूर्ध्व व्यवस्थिता।।
सेयं तारा महाविद्या महाकालस्वरूपिणी।
सव्येतरेयं या देवी विशीर्षातिभयप्रदा।।
इयं देवी छिन्नमस्ता महाविद्या महामते।
वामे तवेयं या देवी सा शम्भो भुवनेश्वरी।।
पृष्ठतस्तव या देवी बगला शत्रुसूदनी।
वह्निकोणे तवेयं या विधवारूपधारिणी।।
सेयं धूमावती देवी महाविद्या महेश्वरी।
नैर्ऋत्यां तव या देवी सेयं त्रिपुरसुन्दरी॥
वायौ या ते महाविद्या सेयं मतङ्गकन्यका।
ऐशान्यां षोडशी देवी महाविद्या महेश्वरी॥
अहं तु भैरवी भीमा शम्भो मा त्वं भयं कुरु।
एताः सर्वाः प्रकृष्टास्तु मूर्तयो बहुमूर्तिषु।।— *महाभागवत, 8/65-71*

'शम्भो! आपके सम्मुख जो यह कृष्णवर्णा एवं भयंकर नेत्रों वाली देवी स्थित है वह 'काली' है। जो श्याम वर्णवाली देवी स्वयं ऊर्ध्व भाग में स्थित है, यह महाकालस्वरूपिणी महाविद्या 'तारा' है। महामते! बायीं ओर जो यह अत्यन्त भयदायिनी मस्तकरहित देवी है, वह महाविद्या 'छिन्नमस्ता' है। शम्भो! आपके वामभागमें जो यह देवी है, वह 'भुवनेश्वरी' है। आपके पृष्ठभाग में जो देवी है, वह शत्रु संहारिणी 'बगला' है। आपके अग्निकोण में जो यह विधवा का रूप धारण भरने वाली देवी है, वह महेश्वरी- महाविद्या 'धूमावती' है। आपके नैर्ऋत्यकोण में जो देवी हैं, वह 'त्रिपुरसुन्दरी' भैरवी है। आपके वायव्यकोण में जो देवी है, वह मतङ्गकन्या महाविद्या 'मातङ्गी' की है। आपके ईशानकोण में महेश्वरी महाविद्या 'षोडशी' देवी हैं। शम्भो ! मैं भयंकर रूप वाली 'भैरवी' हूँ। आप भय मत करें। ये सभी मूर्तियाँ बहुत-सी मूर्तियों में प्रकृष्ट हैं।'

महाभागवत के इस आख्यान से प्रतीत होता है कि महाकाली ही मूलरूपा मुख्य हैं और उन्हींके उग्र और सौम्य दो रूपों में अनेक रूप धारण करने वाली ये दस महाविद्याएँ हैं। दूसरे शब्दों में महाकालीके दशधा प्रधान रूपों को ही दस महाविद्या कहा जाता है। सर्व-विद्यापति शिव की शक्तियाँ ये दस महाविद्याएँ लोक और शास्त्र में अनेक रूपों में पूजित हुई, पर इनके दस रूप प्रमुख हो गये। वे ही महाविद्याएँ, साधकों की परम धन हैं जो सिद्ध होकर अनन्त सिद्धियाँ और अनन्त का साक्षात्कार कराने में समर्थ हैं।

महाविद्याओं के क्रम-भेद तो प्राप्त होते हैं, पर काली की प्राथमिकता सर्वत्र देखी जाती है। यों भी दार्शनिक दृष्टि से कालतत्त्व की प्रधानता सर्वोपरि है। इसलिये मूलतः महाकाली या काली अनेक रूपों में विद्याओं की आदि हैं और उनकी विद्यामय विभूतियाँ महाविद्याएँ हैं। ऐसा लगता है कि महाकाल की प्रियतमा काली अपने दक्षिण और वाम रूपों में दस महाविद्याओं के रूप में विख्यात हुई और उसके विकराल तथा सौम्य रूप ही विभिन्न नाम-रूपों के साथ दस महाविद्याओं के रूप में अनादिकाल से अर्चित हो रहे हैं। ये रूप अपनी उपासना, मन्त्र और दीक्षाओं के भेद से अनेक होते हुए भी मूलतः एक ही हैं। अधिकारिभेद से अलग-अलग रूप और उपासना-स्वरूप प्रचलित हैं।

प्रकाश और विमर्श, शिवशक्त्यात्मक तत्त्व का अखिल विस्तार और लय सब कुछ शक्तिका ही लीला-विलास है। सृष्टि में शक्ति और संहार में शिव की प्रधानता द्रष्ट हैं। जैसे अमा और पूर्णिमा दोनों दो भासती हैं, पर दोनों की तत्त्वतः एकात्मता और एक-दूसरे की कारण-परिणामी हैं, वैसे ही दस महाविद्याओं के रौद्र और सौम्य रूपों को भी समझना चाहिये। काली, तारा, छिन्नमस्ता, बगला और धूमावती विद्यास्वरूप भगवती के प्रकट-कठोर किंतु अप्रकट करुण रूप हैं तो भुवनेश्वरी, षोडशी (ललिता), त्रिपुरभैरवी, मातङ्गी और कमला विद्याओं के सौम्यरूप हैं। रौद्र के सम्यक् साक्षात्कार के बिना माधुर्य को नहीं जाना जा सकता और माधुर्य के अभाव में रौद्र की सम्यक् परिकल्पना नहीं की जा सकती।

सगुण एवं निर्गुण स्वरूप-कथन

यद्यपि दस महाविद्याओं का स्वरूप अचिन्त्य है, तथापि शाखाचन्द्रन्याय से उपासक, स्मृतियाँ और पराम्बा के चरणानुगामी इसमें कुछ निर्वचन अवश्य कर लेते हैं। इस दृष्टि काली-तत्त्व प्राथमिक शक्ति है। निर्गुण ब्रह्म की पर्याय इस महाशक्ति को तान्त्रिक ग्रन्थों में विशेष प्रधानता दी गयी है। वास्तव में इन्हीं के दो रूपों का विस्तार ही दस महाविद्याओं के स्वरूप हैं। महानिर्गुण की अधिष्ठात्री शक्ति होने के कारण ही इनकी उपमा अन्धकार-से दी जाती है। महासगुण होकर वे 'सुन्दरी' कहलाती हैं तो महानिर्गुण होकर 'काली'। तत्त्वतः सब एक है, भेद केवल प्रतीतिमात्र का है। 'कादि' और 'हादि' विद्याओं के रूप में भी एक ही श्रीविद्या क्रमशः काली से प्रारम्भ होकर उपास्या होती हैं। एक को 'संहार- क्रम' तो दूसरेको 'सृष्टि-क्रम' नाम दिया जाता है। *देवीभागवत* आदि शक्ति-ग्रन्थों में महालक्ष्मी या शक्तिबीज को मुख्य प्राधानिक बताने का रहस्य यह है कि इसमें हादि विद्याकी क्रमयोजना स्वीकार की गयी है और तन्त्रों, विशेषकर अत्यन्त गोपनीय तन्त्रों में काली को प्रधान माना गया है। तात्त्विक दृष्टि से यहाँ भी भेदबुद्धि की सम्भावना नहीं है। 'अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा' का तर्क दोनों को दोनों से अभिन्न सिद्ध करता है।

बृहन्नीलतन्त्र में कहा गया है कि रक्त और कृष्णभेद से काली ही दो रूपों में अधिष्ठित हैं। कृष्णा का नाम 'दक्षिणा' है तो रक्तवर्णाका नाम 'सुन्दरी'—

विद्या हि द्विविधा प्रोक्ता कृष्णा रक्ता प्रभेदतः।
कृष्णा तु दक्षिणा प्रोक्ता रक्ता तु सुन्दरी मता ॥

उपासना के भेद से दोनों में द्वैत है, पर तत्त्वदृष्टि से अद्वैत है। वास्तव में काली और भुवनेश्वरी दोनों मूल-प्रकृति के अव्यक्त और व्यक्त रूप हैं। काली से कमला- तक की यात्रा दस सोपानों में अथवा दस स्तरों में पूर्ण होती है। दस महाविद्याओं का स्वरूप इसी रहस्य का परिणाम है।

दस महाविद्याओं की उपासना में सृष्टिक्रम की उपासना लोकग्राह्य है। इसमें भुवनेश्वरी को प्रधान माना गया है। वही समस्त विकृतियों की प्रधान प्रकृति है। *देवी भागवत* के अनुसार सदाशिव फलक है तथा ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और ईश्वर उस फलक या श्रीमञ्च के पाये हैं। इस श्रीमञ्च पर भुवनेश्वरी भुवनेश्वर के साथ विद्यमान है। सात करोड़ मन्त्र इनकी आराधना में लगे हुए हैं। विद्वानों का कथन है कि निर्विशेष ब्रह्म ही स्वशक्ति-विलास के द्वारा ब्रह्मा, विष्णु आदि पञ्च आख्याओं को प्राप्त होकर अपनी शक्तियों के सान्निध्य से सृष्टि, स्थिति, लय, संग्रह तथा अनुग्रह रूप पञ्च कृत्यों को सम्पादित करते हैं। वह निर्विशेष तत्त्व 'परमपुरुष' पद-वाच्य है और उसकी स्वरूपभूत अभिन्न शक्ति ही है भुवनेश्वरी। यही स्वरूप त्रिपुरसुन्दरी का भी प्रसिद्ध है।

महाविद्याओं के आविर्भाव का देश तथा काल

इन महाविद्याओं के आविर्भाव के देश तथा काल का निर्देश अनेक तन्त्रों में मिलता है। यह देश भारतवर्ष के ही प्रान्त-विशेष के रूप में परिचित है तथा काल विविध पारिभाषिक रात्रियों के नाम से प्रसिद्ध है। साधकों के लिये वह स्थान एवं काल अधिक महत्त्वपूर्ण है, जब जहाँ भगवती का आविर्भाव हुआ। *शक्तिसंगमतन्त्र* के छिन्नमस्ता खण्ड में उन देशों का निर्देश है, जहाँ इन विद्याओं का आविर्भाव हुआ था। यथा अवन्ती में आद्या का, श्रीशैल में (शिवकाञ्ची में) त्रिपुरसुन्दरी का, मेरुगिरि के पश्चिमकूल स्थित चोलह्रद में तारा का, पुष्पभद्रा नदी के तट पर छिन्नमस्ता का, सौराष्ट्र के हरिद्राख्य सिद्धकुण्ड में वगला का, मतंग मुनि के तपःप्रभाव से कदम्ब विपिन में मातंगी का और दक्षप्रजापति के यज्ञ में निर्मित गौरीकुण्ड के धूम से धूमावती का आविर्भाव हुआ। यहाँ उस काल का विवरण भी अनेकत्र दिया गया है। यथा प्रथम खण्ड के षष्ठ एवं त्रयोदश पटलों के पूर्णाभिषेक प्रकरण में और चतुर्थ खण्ड के पञ्चम तथा षष्ठ पटलों में विशद रूप में देखा जाता है। किन्तु *कल्याण* के शक्ति अंक में निर्दिष्ट इन देवियों की आविर्भाव-रात्रियों के साथ शक्तिसंगमतन्त्र का मतैक्य नहीं है। प्रतीत होता है कि तन्त्रान्तर से इस शक्ति अंक में इन रात्रियों का विवरण संगृहीत हुआ है। यथा फाल्गुन कृष्ण एकादशी तिथि का पारिभाषिक नाम 'महारात्रि' है। इसी रात्रि में यहाँ आद्या (काली) का आविर्भाव कहा गया है। इसी तरह क्रमशः चैत्र शुक्ल नवमी 'क्रोधरात्रि' है। इसमें द्वितीया, अर्थात् तारा का आविर्भाव हुआ। त्रिपुरसुन्दरी का आविर्भाव 'दिव्यरात्रि' अर्थात् ज्येष्ठ शुक्ल दशमी को हुआ। भुवनेश्वरी का 'सिद्धरात्रि' में चैत्र संक्रान्ति के बाद की अष्टमी में, छिन्नमस्ता का 'वीररात्रि' में

कुलाकुलचक्रघटित कुल नक्षत्र से युक्त चर्तुदशी मंगल यदि मकरसंक्रान्ति के मध्य पड़ता हो तो उस समय में, भैरवी का 'कालरात्रि' में अर्थात् कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी को यदि अमावस्या का योग हो, धूमावती का 'दारुणारात्रि' वैशाख शुक्ल तृतीया को यदि कुलाकुल नक्षत्र घटित कुल नक्षत्र का योग हो, वगलामुखी का 'घोररात्रि' में अर्थात् अगहन कृष्ण अष्टमी को, मातंगी का 'मोहरात्रि' में अर्थात् भाद्रकृष्ण अष्टमी को और कमला का 'महारात्रि' में आविर्भाव हुआ। इन रात्रियों का विवरण यहाँ स्वतन्त्रतन्त्र से संगृहीत है। *प्राणतोषिणी* तन्त्र में उक्त वचन का उद्धरण उपलब्ध है।

ये दस महाविद्याएं अकेली पूजित नहीं होतीं। इनके साथ शिव की भी पूजा विहित है, जो भैरव नाम से प्रसिद्ध हैं। सांसारिक भय से जो मुक्त करने में समर्थ हो, वही भैरव है। सांसारिक भय से भीत साधक उपासक भगवान् शिव को आर्त स्वर से पुकारता है, उस समय उस साधक के हृदय में जो स्फुरित होते हैं, वही भैरव है। शक्तिसंगमतन्त्र में दस महाविद्याओं के भैरव यथाक्रम इस प्रकार निर्दिष्ट हैं— महाकाल, ललितेश्वर, अक्षोभ्य, क्रोधभैरव, महादेव, कालभैरव, नारायण, बटुक, मतंग, तथा मृत्युञ्जयय[1]। तोडलतन्त्र में यहाँ कुछ पार्थक्य भी है। यथा त्रिपुरसुन्दरी के पञ्चवक्त्र, भुवनेश्वरी के त्र्यम्बक, भैरवी के दक्षिणामूर्ति, छिन्नमस्ता के कबन्ध शिव, धूमावती के कोई नहीं, क्योंकि वह विधवा है, वगलामुखी के एकवक्त्र, कमला के भगवान् विष्णु और काली, तारा तथा मातंगी के महाकाल, अक्षोभ्य एवं मतंग माने गये हैं[2]।

विशेष-विशेष कार्य के लिये विशेष विशेष देवता का आराधन भी शाक्त सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है। यद्यपि इष्ट देवता से साधक की सभी मनःकामनाओं की सिद्धि अवश्य संभव है, तथापि शक्तिसंगमतन्त्र के छिन्नमस्ता खण्ड में एक-एक विशेष कार्य के लिये एक-एक महाविद्याविशेष की प्रसिद्धि कही गयी है। जैसे दान में काली, ज्ञान में तारा, राज्यलाभ में त्रिपुरसुन्दरी, अनुग्रह में छिन्नमस्ता, विवाद झगड़ा निबटाने में वगला, वशीकरण में तथा मनःकामना-सिद्धि में मातंगी, शान्ति-स्वस्त्ययन में भुवनेश्वरी, क्रोध कार्य में धूमावती, क्रीडा या लीला में कालिका, वाञ्छा-सिद्धि में सुमुखी, दान में कमला, सत्यसिद्धि में कालिका, ज्ञान में परशिव और ब्रह्माण्ड के निर्माण में राजराजेश्वरी प्रसिद्ध हैं।

काली

ज्वालाकरालमत्युग्रमशेषासुरसूदनम्।
त्रिशूलं पातु नो भीतेर्भद्रकालि नमोऽस्तुति।। — *दुर्गासप्तशती, 11.26*

दस महाविद्याओं में काली प्रथम हैं। *महाभागवत* के अनुसार महाकाली ही मुख्य हैं और उन्हीं के उग्र और सौम्य दो रूपों में अनेक रूप धारण करने वाली दस महाविद्याएँ हैं। विद्यापति भगवान् शिव की शक्तियाँ ये महाविद्याएँ अनन्त सिद्धियाँ प्रदान करने में समर्थ हैं दार्शनिक दृष्टि से भी कालतत्त्व की प्रधानता सर्वोपरि है। इसलिये महाकाली या काली ही समस्त विद्याओं की आदि हैं अर्थात् उनकी विद्यामय विभूतियाँ ही महाविद्याएँ हैं। ऐसा लगता है कि महाकाल की प्रियतमा काली ही अपने दक्षिण और वाम रूपों में दस महाविद्याओं के नाम से विख्यात

हुईं। *बृहन्नीलतन्त्र* के अनुसार रक्त और कृष्णभेद से काली ही दो रूपों में अधिष्ठित हैं। कृष्णा का नाम 'दक्षिणा' और रक्तवर्णा का नाम 'सुन्दरी' है।

कालिकापुराण में कथा आती है कि एक बार हिमालय पर अवस्थित मतंग मुनि के आश्रम में जाकर देवताओं ने महामाया की स्तुति की। स्तुति से प्रसन्न होकर मतंग-वनिता के रूप में भगवती ने देवताओं को दर्शन दिया और पूछा कि तुम लोग किस की स्तुति कर रहे हो। उसी समय देवी के शरीर से काले पहाड़ के समान वर्ण वाली एक और दिव्य नारी का प्राकट्य हुआ। उस महातेजस्विनी ने स्वयं ही देवताओं की ओर से उत्तर दिया कि 'ये लोग मेरा ही स्तवन कर रहे हैं।' वे काजल के समान कृष्णा थीं, इसीलिये उनका नाम 'काली' पड़ा।

दुर्गासप्तशती के अनुसार एक बार शुम्भ निशुम्भ के अत्याचार से व्यथित होकर देवताओं ने हिमालय पर जाकर देवीसूक्त से देवी की स्तुति की, तब गौरी की देह से कौशिकी का प्राकट्य हुआ। कौशिकी के अलग होते ही अम्बा पार्वती का स्वरूप कृष्ण हो गया, जो 'काली' नाम से विख्यात हुईं। काली को नीलरूपा होने के कारण तारा भी कहते हैं। *नारद-पाञ्चरात्र* के अनुसार एक बार काली के मन में आया कि वे पुनः गौरी हो जायँ। यह सोचकर वे अन्तर्धान हो गयीं। शिवजी ने नारदजी से उनका पता पूछा। नारदजी ने उनसे सुमेरु के उत्तर में देवी के प्रत्यक्ष उपस्थित होने की बात कही। शिवजी की प्रेरणा से नारदजी वहाँ गये। उन्होंने देवी से शिवजी के साथ विवाह का प्रस्ताव रखा। प्रस्ताव सुनकर देवी क्रुद्ध हो गयीं और उनकी देह से एक अन्य षोडशी विग्रह प्रकट हुआ और उससे छायाविग्रह त्रिपुरभैरवी का प्राकट्य हुआ।

काली की उपासना में सम्प्रदायगत भेद है। प्रायः दो रूपों में इनकी उपासना का प्रचलन है। भव-बन्धन-मोचन में काली की उपासना सर्वोत्कृष्ट कही जाती है। शक्ति-साधना के दो रूपों में काली की उपासना श्याम-पीठ पर करने योग्य है। भक्तिमार्ग में तो किसी भी रूप में उन महामाया की उपासना फलप्रदा है, पर सिद्धि के लिये उनकी उपासना वीरभाव से की जाती है। साधना के द्वारा जब अहंता, ममता और भेद-बुद्धि का नाश होकर साधक में पूर्ण शिशुत्व का उदय हो जाता है, तब काली का श्रीविग्रह साधक के समक्ष प्रकट हो जाता है। उस समय भगवती काली की छबि अवर्णनीय होती है। कज्जल के पहाड़ के समान, दिग्वसना, मुक्तकुन्तला, शव पर आरूढ़, मुण्डमालाधारिणी भगवती काली का प्रत्यक्ष दर्शन साधक को कृतार्थ कर देता है। तान्त्रिक मार्ग में यद्यपि काली की उपासना दीक्षागम्य है, तथापि अनन्य शरणागति के द्वारा उनकी कृपा किसी को भी प्राप्त हो सकती है। मूर्ति, मन्त्र अथवा गुरुद्वारा उपदिष्ट किसी भी आधार पर भक्तिभाव से, मन्त्र-जप, पूजा, होम और पुरश्चरण करने से भगवती काली प्रसन्न हो जाती हैं। उनकी प्रसन्नता से साधक को सहज ही सम्पूर्ण अभीष्टों की प्राप्ति हो जाती है।

परमात्मा की पराशक्ति भगवती निराकार होकर भी देवताओं का दुःख दूर करने के लिये युग-युग में साकाररूप धारण करके अवतार लेती हैं। उनका शरीरग्रहण उनकी इच्छा का वैभव कहा गया है। सनातन

शक्ति जगदम्बा ही महामाया कही गयी हैं। वे ही सब के मन को खींचकर मोह में डाल देती हैं। उनकी माया से मोहित होने के कारण ब्रह्मादि समस्त देवता भी परम तत्त्व को नहीं जान पाते, फिर मनुष्यों की तो बात ही क्या है ? वे परमेश्वरी ही सत्त्व, रज और तम-इन तीनों गुणों का आश्रय लेकर समयानुसार सम्पूर्ण विश्व का सृजन, पालन और संहार किया करती हैं।

शिवपुराण एवं *मार्कण्डेयपुराण* के अनुसार उनके कालीरूप में अवतार की कथा इस प्रकार है—प्रलयकाल में सम्पूर्ण जगत् के जलमग्न होने पर भगवान् विष्णु योगनिद्रा में शेषशय्या पर शयन कर रहे थे। उन्हीं दिनों भगवान् विष्णु के कानों के मल से दो असुर उत्पन्न हुए। वे भूतल पर मधु और कैटभ के नाम से विख्यात हुए। वे दोनों विशालकाय असुर प्रलयकाल के सूर्य की भाँति तेजस्वी थे। उनके जबड़े बहुत बड़े थे। उनके मुख दाढ़ों के कारण ऐसे विकराल दिखायी देते थे, मानो वे सम्पूर्ण विश्व को खा डालने के लिये उद्यत हों। उन दोनों ने भगवान् विष्णु की नाभि से उत्पन्न हुए कमल के ऊपर विराजमान ब्रह्मा को देखकर पूछा-'अरे, तू कौन है और यहाँ पर कैसे आ गया है?' ऐसा कहते हुए वे दोनों ब्रह्माजी को मारने के लिये तैयार हो गये।

ब्रह्माजी ने देखा कि ये दोनों मेरे ऊपर आक्रमण करना चाहते हैं और भगवान् विष्णु समुद्र के जल में शेषशय्या पर सो रहे हैं, तब उन्होंने अपनी रक्षा के लिये महामाया परमेश्वरी की स्तुति की और उनसे प्रार्थना किया—'अम्बिके! तुम इन दोनों असुरों को मोहित करके मेरी रक्षा करो और अजन्मा भगवान् नारायण को जगा दो।'

मधु और कैटभ के नाश के लिये ब्रह्माजी के प्रार्थना करने पर सम्पूर्ण विद्याओं की अधिदेवी जगज्जननी महाविद्या काली 'फाल्गुन शुक्ला द्वादशी' को त्रैलोक्य मोहिनी शक्ति के रूप में पहले आकाश में प्रकट हुईं। तदनन्तर आकाशवाणी हुई 'कमलासन ब्रह्मा डरो मत। युद्ध में मधु-कैटभ का विनाश करके मैं तुम्हारे संकट दूर करूँगी।' फिर वे महामाया भगवान् श्रीहरि के नेत्र, मुख, नासिका और बाहु आदि से निकलकर ब्रह्माजी के सामने आ खड़ी हुईं। उसी समय भगवान् विष्णु भी योगनिद्रा से जग गये। फिर देवाधिदेव भगवान् विष्णु ने अपने सामने मधु और कैटभ दोनों दैत्यों को देखा। उन दोनों महादैत्यों के साथ अतुल तेजस्वी भगवान् विष्णु का पाँच हजार वर्षों तक घोर युद्ध हुआ। अन्त में महामाया के प्रभाव से मोहित होकर उन असुरों ने भगवान् विष्णु से कहा कि 'हम तुम्हारे युद्ध से अत्यन्त प्रभावित हुए। तुम हम से अपनी इच्छानुसार वर माँग लो।'

भगवान् विष्णु ने कहा—'यदि तुम लोग मुझ पर प्रसन्न हो तो मुझे यह वर दो कि तुम्हारी मृत्यु मेरे हाथों से हो।' उन असुरों ने देखा कि सारी पृथ्वी एकार्णव जल में डूबी हुई है। यदि हम सूखी धरती पर अपने मृत्यु का वरदान इन्हें देते हैं, तब यह चाहकर भी हम को नहीं मार पायेंगे और हमें वरदान देने का श्रेय भी प्राप्त हो जायगा। अतः उन दोनों ने भगवान् विष्णु से कहा कि 'तुम हम को ऐसी जगह मार सकते हो, जहाँ जल से भीगी हुई धरती न हो।' 'बहुत अच्छा' कहकर भगवान् विष्णु ने अपना परम तेजस्वी चक्र उठाया और अपनी जाँघ पर उनके मस्तकों को रखकर काट डाला। इस प्रकार भगवती महाकाली की कृपा से उन दैत्यों की बुद्धि भ्रमित हो जाने से उनका अन्त हुआ।

तन्त्र-ग्रन्थों में स्वरूपतः एक एवं अद्वितीय अत एव कृष्ण तथा ब्रह्म के साथ तादात्म्ययुक्ता तथा तुलनीया भगवती काली के अनेक प्रभेद, अर्थात् व्यावहारिक सत्ता निर्दिष्ट हैं। *महानिर्वाणतन्त्र* कहता है कि महाप्रभामयी, कालमाता तथा रूपरहिता काली की रूपकल्पना उनके गुण एवं क्रिया के अनुसार की गई है।

तोडलतन्त्र में काली के आठ भेद वर्णित हैं—दक्षिणकाली, सिद्धकाली, गुह्यकाली, श्रीकाली, द्रकाली, चामुण्डाकाली, श्मशानकाली और महाकाली।

महाकालसंहिता में इनके नौ प्रकार कहे गये हैं- दक्षिणकाली, भद्रकाली, श्मशानकाली, कालकाली, गुह्यकाली, कामकलाकाली, धनकाली, सिद्धिकाली और चण्डकाली।

तन्त्रालोक में भिन्न प्रकार के बारह कालिकाओं के नाम उपलब्ध हैं। वहीं इनके ध्यान एवं मन्त्र आदि भी दिए गये हैं। व्याख्याकार जयरथ ने इन सबका परिचय विस्तार प्रस्तुत किया है। तन्त्रालोक का यह प्रकरण प्रायः क्रम-दर्शन से संबद्ध है तथा गंभीर रहस्य को स्पष्ट करता है।

काली का ध्यान

भगवती के ही दश रूप में प्रथम महाकाली है। महाकाली प्रलयकाल से सम्बद्ध रहती है, अतएव वह कृष्णवर्ण ही है। वह शव पर इसलिये आरूढ़ है कि शक्तिविहीन मृत विश्व के ऊपर विराजमान है। शत्रुसंहारक की शक्ति भयावह होती है, इसलिए काली मूर्त्ति भी भयावह है। शत्रुसंहार के बाद योद्धा का अट्टहास भीषणता के लिए होता है इसीलिए महाकाली हँसती रहती है। निर्बल के आक्रमण को विफल कर उसकी दुर्बलता पर हँसा जाता है, इसी तरह निर्बल विश्व के घमण्ड को चूर कर भगवती हँसती है। पूर्ण वस्तु को चतुरस्र कहा जाता है, इसीलिये पूर्णतत्त्व चार भुजा से प्रकट हुआ करता है। इसीसे माँ काली की चार भुजाएँ हैं। वह स्वयं निर्भय है, उसका आक्रमण आश्रयण करने वाले निर्भय होते हैं, इसीलिए भगवती ने अभय मुद्रा धारण की है। सांसारिक सुख क्षणभङ्गुर है, परमसुख भगवती ही है, जीवित विश्व का एवं मृत विश्व का भी आधार वही है। मृतप्राणियों का भी एकमात्र सहारा है, यही द्योतन करने के लिए देवी ने मुण्डमाला पहनी है। विश्व ही ब्रह्मरूपा भगवती का आवरण है, प्रलय में सबके लीन होने पर भगवती नग्न ही रहती है। सारे विश्व के श्मशान के तरने पर उस तमोमयी का विकास होता है, इसीलिए वह श्मशानवासिनी है—ध्यानम्।

शवारूढां महाभीमा घोरदंष्ट्रां हसन्मुखीम्।
चतुर्भुजां खड्गमुण्डवराभयकरां शिवाम्।।
मुण्डमालाधरां देवीं ललज्जिह्वां दिगम्बराम्।
एवं सञ्चिन्तयेत् कालीं श्मशानालयवासिनीम्।। —*शाक्तप्रमोद-कालीतन्त्र , पृ. 1*

दीर्घ काल से मिथिला में कुलदेवता के रूप में भी दस महाविद्याओं में से किसी एक देवता की स्थापना होती आ रही है। इनमें भी दक्षिणकाली, तारा तथा त्रिपुरसुन्दरी का ही प्राधान्य है। यही कारण है कि इस

विष्णुक्रान्ता क्षेत्र में आधुनिक काल में दस महाविद्याओं की आराधन-विधि के प्रचारार्थ अनेक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है। बंगाल में ख्रिष्टीय षोडश शतक के आस-पास की कृति रघुनाथ तर्कवागीशः प्रणीत *आगमतत्त्वविलास*, यदुनाथ शर्मा की *आगमकल्पवल्ली* तथा अन्य किसी साधक की कृति *आगमचन्द्रिका* में इन दस महाविद्याओं की विस्तृत उपासनापद्धति निर्दिष्ट है। इसी क्रम में *तन्त्रसार* तथा *प्राणतोषिणी* तन्त्र का प्रणयन हुआ। मिथिला में *शाक्तप्रमोद* तथा राजनाथ मिश्रकृत *तन्त्राह्निक* का अधिक प्रचार हुआ एवं नेपाल में विशाल ग्रन्थ *पुरश्चर्यार्णव* का निर्माण हुआ।

काली से संबद्ध साहित्य

काली विद्या विषयक साहित्य का परिमाण इतना अधिक है कि सबका संकलन सीमित स्थान एवं काल में सम्भव नहीं है। काली की उपासना से संबद्ध उपनिषद्, सूत्र, मूलतन्त्र, सारसंग्रह, संहिता, स्वतन्त्र निबन्ध तथा पूजापद्धतियाँ उपलब्ध हैं। यथामति उसका दिग्दर्शन प्रस्तुत करने की चेष्टा की जाती है। काली-उपनिषद्, *बह्वृचोपनिषद् अथर्वशीर्ष—उपनिषद् अथर्वगुह्योपनिषद्* तथा *शाक्त-उपनिषद्* प्रकाशित एवं प्रचारित हैं, जहाँ परा देवी एवं काली के प्रसंग में विवरण उपलब्ध है। *कालज्ञानतन्त्र* तथा कालोत्तरपरिशिष्ट काली उपासना का प्राचीन ग्रन्थ है। क्षेमराज ने *साम्बपञ्चाशिका* की टीका में इसका उल्लेख किया है। विमलबोधकृत *कालीकुलक्रमार्चन, भद्रकालीचिन्तामणि, कालीकल्प, कालीसपर्याक्रमकल्पवल्ली, कालीविलासतन्त्र, कालिकार्णव, कालीकुलसर्वस्व, कुलमूलावतार, कालीकुलतन्त्र,* काशीनाथ तर्कालंकारभट्टाचार्यकृत *श्यामासपर्या, कालिकार्चामुकुर, शक्तिसंगमतन्त्र* का *कालीखण्ड, भैरवीतन्त्र* का *कालीमाहात्म्य, महाकालसंहिता* का *गुह्यकाली* तथा *कामकलाखण्ड*, *कुलार्णवतन्त्र*, *कारणागमतन्त्र*, *कालीतन्त्र*, कालिदासकृत *चिद्गगनचन्द्रिका*, *पुरश्चर्यार्णव* का नवम तरंग, *विश्वसारतन्त्र*, कृष्णानन्द आगमवागीश कृत *तन्त्रसार*, *प्राणतोषिणीतन्त्र*, *शाक्तप्रमोद* तथा *तन्त्राह्निक* आदि ग्रन्थों में काली की उपासनाविधि विस्तार या संक्षेप से वर्णित है।

इनके अतिरिक्त मार्कण्डेयपुराण का *देवीमाहात्म्य, देवीपुराण, कालिकापुराण, भविष्यपुराण* तथा *विष्णुधर्मोत्तरपुराण* आदि में भी भगवती आद्या का माहात्म्य एवं उपासनाविधि प्रतिपादित है।

काली शक्ति-साधना-विधि साहित्य

1.	कालिकाकवचम्	रुद्रयामल	29
2.	कालिकास्तोत्रम्		09
3.	आद्याकालिकाशतनामस्तोत्रम्	महानिर्वाण	51
4.	कामकलाकाल्याः भुजङ्गप्रियास्तोत्रम्	रावण	24
5.	कालीसहस्रनामस्तोत्रम्	महाभागवत	181

6.	ककारात्मककालीसहस्रनामस्तोत्रम्	महाकालसंहिता	451
7.	त्रैलोक्यमोहनकवचम्	महाकालसंहिता	63
8.	श्रीमहाविपरीतप्रत्यङ्गिरास्तोत्रम्		75
9.	भद्रकालीकवचम्	ब्रह्मवैवर्तपुराण	24
10.	श्रीसिद्धितत्त्वस्तोत्रम्	महाकालसंहिता	34
11.	सुधाधारास्तोत्रम्	महाकालसंहिता	28
12.	कर्पूरस्तोत्रम्	भैरवतन्त्र	22
13.	कालीस्तोत्रम्	शाक्तप्रमोद	17
14.	कालीकवचम्	भैरवतन्त्र	37
15.	कालीहृदयम्	भैरवतन्त्र	33
16.	कालीशतनामस्तोत्रम्	भैरवतन्त्र	21
17.	भद्रकालीस्तोत्रम्	महाभागवत	08
18.	कालिकाष्टकम्	शंकराचार्य	18

पूर्व-प्रोफेसर एवं अध्यक्ष,
दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर। (राज.)
55 गोविन्द नगर, वैशाली नगर,
जयपुर-302021
फोन-9413970601

नेत्रतन्त्र में त्र्यक्षरी महामृत्युञ्जय मन्त्र साधना

डॉ. हर्षदेव माधव

नेत्रतन्त्र में त्र्यक्षरी महामृत्युञ्जयय मन्त्र कश्मीरी शैव दर्शन में 'नेत्र तन्त्र' नामक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। अन्य देवताओं से भगवान् शिव का अपना वैशिष्ट्य है कि भगवान् शिव के तीन नेत्र हैं। ये तीनों नेत्र रहस्यपूर्ण हैं। देवी पार्वती भगवान् शिव से प्रश्न पूछती है कि हे भगवान्! आप इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्ति स्वरूप तीन नेत्रों से जगत् को उत्पन्न करते हैं फिर ये जगत् दुःख से भरा हुआ क्यों है ? लोगों के कल्याण के लिए कोई उपाय बताएं। यह जगत् अनेक रोगों, अपमृत्यु और दुःखों से परिपूर्ण हैअनेक लोग रोगों से मृत्यु को प्राप्त होते हैं। व्याधियों से पीड़ित होते हैं। उन पर अनुग्रह करने के लिए हे जगन्नाथ! आप उचित उपाय बताएं। यह सुनकर भगवान् शिव ने कहा हे देवी! आप अत्यन्त करुणामय बनकर मुझे प्रश्न पूछ रही हैं। इससे पहले मैंने किसी को नहीं बताया है, ऐसा रहस्य आपको बता रहा हूँ।

अतिकारुण्यमाविष्टा देवी त्वं पृच्छसीह माम्।
न केनचिदहं पृष्टो नाख्यातं कस्य चिन्मया ॥ *(नेत्रतन्त्र, द्वितीय अधिकार, श्लोक 9)*

भगवान् शिव ने जिस रहस्य को पहले किसी को नहीं कहा, उस रहस्य को प्रकट करते हुए कहते हैं कि दूसरे अनेक मन्त्र हैं परन्तु मेरी आँख से उत्पन्न तीन बीज रूपी महामृत्युञ्जयय मन्त्र अत्यन्त शक्तिशाली है। ये मन्त्र योग और ज्ञान से प्राप्त किए जा सकते हैं। ये मोक्ष प्रदात्ता तथा सर्व सिद्धियों को देने वाले हैं। अन्य इन्द्रियों में आँख विशिष्ट अवयव है। यह प्रत्येक वस्तु को प्रकाशित करता है। इसी तरह ये मन्त्र भी सर्व मन्त्रों की आत्मा जैसे हैं। भगवान् शिव ने अपने हृदय में सहजकर रखे हुए ये मन्त्र, सर्वसिद्धियों को देने वाले हैं तथा रक्षा करने वाले हैं। इन मन्त्रों को जानने वाला भूत-प्रेतों के भय से मुक्त और अपमृत्यु से बच जाता है। यमराज के पाश से भी छूट जाता है। इस प्रकार तीन अक्षर वाला यह मन्त्र मनुष्य को इह लोक में रोग और मृत्यु से बचाकर मुक्ति प्रदान करता है। इस मन्त्र में तीन बीज है। यह मन्त्र गुरु से प्राप्त कर भगवान् शिव के मंदिर में जाकर शिव की आज्ञा से मन्त्र जप करना चाहिए। जैसे तन्त्र में मन्त्र का कथन गुप्त रूप से होता है उसी प्रकार यहाँ भी मन्त्र को गूढ़ भाषा में निरूपण किया गया है।

प्रथम बीज

विश्वाद्यं विश्वरूपान्तं विश्वमहामृतकन्दलम्।
ज्योतिर्ध्वनिः पराशक्तिः शिव एकत्र संस्थितः ॥ *(नेत्रतन्त्र, 2-21)*

इस श्लोक में 'हौं' नामक बीज उद्धार पाया है। 'हौं' ओमकार जितनी शक्ति रखता है। भगवान् शिव का यह प्रणव है। 'हौं' बीज के लिए भगवान् शिव कहते हैं कि इस बीज से सर्व मन्त्र उत्पन्न हुए हैं और सभी मन्त्र जैसे मणि धागे में गुम्फित होती है वैसे इस मन्त्र से गुंथित हुए हैं। सात करोड़ मन्त्र 'हौं' बीज से उत्पन्न हुए हैं।

द्वितीय बीज

चित्रभानुपदान्तं तु शशाङ्कशकलोदरम्।
तदङ्कुशोर्ध्वविन्यस्तं तिर्यगान्तोर्ध्वयोजितम्॥ *(नेत्रतन्त्र, 2-23)*

इस श्लोक में 'जूं' बीज का उद्धार हुआ है। 'जूं' बीज परम अमृत के समान है।

तृतीय बीज का उद्धार

यत्तत्परममुदिष्टममृतं लोकविश्रुतम्॥ 24 ॥
पीयूषकलया युक्तं पूर्णचन्द्रप्रभोपमम्॥ *(नेत्रतन्त्र, 2-24,25)*

'सः' नामक बीज यहाँ उद्धार को प्राप्त हुआ है। 'सः' बीज परम अमृतमय है। अमृतकला से युक्त है और लोगों में प्रसिद्ध है कि यह पूर्ण चन्द्र जैसी कांति वाला है।

नेत्रतन्त्र में त्र्यक्षरी मन्त्र का माहात्म्य

'हौं जूं सः' इन तीन अक्षरों वाले महामृत्युञ्जय मन्त्र की भारी महिमा है। स्वयं नेत्रतन्त्र में इसकी महिमा वर्णित है—

एतत्तत्परमं धाम एतत्तत्परमं पदम् ॥
एतत्तत्परमं वीर्यमेतत्तत्परमामृतम्।
तेजसां परमं तेजो ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमम्॥
सर्वस्य जगतो देवमीश्वरं कारणं परम्।
स्रष्टा धर्ता च संहर्ता नास्त्यस्य सदृशो बली ॥
मन्त्राणामालयो ह्येष सर्वसिद्धिगुणास्पदम्। *(नेत्रतन्त्र, 2-25 से 26)*

अर्थात् यह मन्त्र परमधाम है यानि चित्त प्रकाशमय है। यह मन्त्र परमपद है अर्थात् विश्रांत भूमि है। यह मन्त्र परम वीर्य है यानि सबसे समर्थ है। अमृत का आनन्द देने वाला है। तेज का परम तेज है अर्थात् कालाग्नि आदि भीषण अग्नि भी इसके सामने निस्तेज हो जाती है। ज्योतियों की ज्योति है। अर्थात् सूर्य, चन्द्र और ध्रुव आदि ताराओं से भी अधिक प्रकाशित है। यह मन्त्र सर्व जगत् के सर्व देव का कारण ऐसा परमेश्वर रूप है।

इसीलिए यह मन्त्र स्वयं ही स्रष्टा, धर्ता और संहर्त्ता है। सर्व मन्त्रों का यह निवास स्थान है और साधकों को अभीष्ट सिद्धियाँ देने वाला है तथा सर्वगुणों से युक्त है। इस मन्त्र को विस्तार से समझें—

मन्त्र महार्णव में निर्दिष्ट त्र्यक्षरी मन्त्र की उपासना

मन्त्र महार्णव के छठे तरंग में त्र्यक्षरी मन्त्र का विधान मन्त्र महोदधि और शारदातिलक के अनुसार निम्न प्रकार से है—

अस्य त्र्यक्षरात्मक- महामृत्युञ्जय मन्त्रस्य
कहोलः ऋषिः।
गायत्री छन्दः।
मृत्युञ्जयो महादेवो देवता।
जूं बीजं सः शक्तिः
सर्वेष्टसिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः।

न्यासः

ॐ कहोलर्षये नमः शिरसे। गायत्रीच्छन्दसे नमः मुखे॥
मृत्युञ्जयय महादेव देवतायै नमः हृदि॥
जूं बीजाय नम गुह्ये (हाथ धोने चाहिए)
सः शक्तये नमः पादयोः ॥
विनियोगाय नमः सर्वांगे। (इति ऋष्यादि न्यासः)

करादिन्यासः

ॐ सां अंगुष्ठाभ्यां नमः ॥
ॐ सीं तर्जनीभ्यां नमः ॥
ॐ सूं मध्यमाभ्यां नमः ॥
ॐ सैं अनामिकाभ्यां नमः ॥
ॐ सौं कनिष्ठिकाभ्यां नमः ॥
ॐ सः करतल करपृष्ठाभ्यां नमः ॥
(इस प्रकार कर न्यास करें)

हृदयादि न्यासः

ॐ सां हृदयाय नमः। ॐ सीं शिरसे स्वाहा ॥
ॐ सूं शिखायै वषट्। ॐसैं कवचाय हुम्॥
ॐ सौं नेत्रत्रयाय वौषट्। ॐ सः अस्त्राय फट्।
(इति हृदयादि षडंग न्यासः)

शिव का ध्यान :-

महामृत्युञ्जयय त्र्यक्षरी मन्त्र के लिए निम्न मन्त्र से ध्यान करें।
चन्द्रार्काग्निविलोचनं स्मितमुखं पद्मद्वयान्तः स्थितं
मुद्रापाशमृगाक्षसूत्रविलसत्पाणिं हिमांशुप्रभम्।
कोटिरेन्दुगलत्सुधाप्लुततनुं हारादिभूषोज्वलं
कान्त्या विश्वविमोहनं पशुपतिं मृत्युञ्जययं भावयेत्॥

अर्थात् चन्द्र, सूर्य और अग्निरूपी तीन नेत्रों वाले, मुख पर मधुर हास्य वाले, दो पद्म के (मूलाधार व सहस्रार) बीच रहे हुए, पद्मासन की मुद्रा में बैठे हुए, हाथों में मुद्रा, पाश मृग और रुद्राक्ष की माला को धारण किए हुए, चन्द्र जैस शान्त कांति वाले, करोड़ों चन्द्र में से निसृत अमृत से आप्लावित देह वाले, हार आदि आभूषणों से सुशोभित, अपनी कांति से विश्व को मोहित करने वाले पशुपति भगवान मृत्युञ्जयय का ध्यान करें।

पुनश्चरण विधि

मृत्युञ्जयय मन्त्र के तीन बीज होने से इस मन्त्र का तीन लाख बार जप करना चाहिए तथा दशांश हवन व हवन का दशांश तर्पण करना चाहिए।

मृत्युञ्जयय की आराधना विधि

नेत्रतन्त्र के छठे अधिकार में मृत्युजंय मन्त्र की आराधना विधि बतलाई गई है। इस विधि को जानने से मनुष्य दुःख का सागर पार कर जाता है। भगवान् महादेव अमृतेश है अर्थात् अमृत के ईश्वर हैं। सर्व प्राणियों का हित करने वाले हैं। सर्व प्राणियों की आत्मा हैं तथा सिद्धि प्रद है। इस प्रकार इस मन्त्र से सर्व सिद्धियों की प्राप्ति होती है। दुष्ट तत्त्वों का शमन, अपमृत्यु का निवारण शांति और पुष्टि प्रदाता शिव के मन्त्र भगवान् शिव ने स्वयं कहे हुए हैं।

शिव की उपासना के तीन उपाय :-

भगवान् कहते हैं कि दुःख के समुद्र को तैरने के लिए मैं उपासना का रहस्य बताता हूँ—

श्रूयतां संप्रवक्ष्यामि रहस्यं परमाद्भुतम्।
यथा तरन्ति मनुजा दुःखोदधिपरिप्लुता।
अपमृत्युशताक्रान्ता जना दारिद्र्ययुताः।
आधिव्याधिभयोद्विग्नाः पापौघैर्विपीडिताः ॥
मुच्यन्ते च यथा सर्वे पूर्वोक्तदरिणैः प्रिये।
त्रिविधं तदुपायं तु स्थूल सूक्ष्म परं च तत् ॥

अब मैं अद्भूत रहस्य कहता हूँ—उसे सुनो, जिससे मनुष्य दुःख के समुद्र तैर जाता है। सैकड़ों अपमृत्यु से घिरा हुआ, दारिद्र्य से युक्त, आधि-व्याधि और भय से उद्विग्न, सैकड़ों, पापों से पीडित ऐसे मनुष्य हे पार्वती ! तीन उपायों से छूट जाते हैं। ये तीन उपाय स्थूल, सूक्ष्म और पर उपाय हैं।

(1) **स्थूल उपायः-** यज्ञ करना, हवन करना, जप करना, मुद्रा के साथ ध्यान करना, यंत्र पूजा करनी- ये सब स्थूल उपाय हैं। ये उपाय भी फल देते हैं तथा इनसे शक्ति भी उत्पन्न होती है।

(2) **सूक्ष्म उपाय :-** चक्र और सोलह आधारों से जिस योग का वर्णन किया गया है तथा कला व नाड़ी के उदय के साथ जो योग किया जाता है वह तन्त्र योग के साथ जुड़ा हुआ है।

(3) **पर उपाय :-** इस उपाय से मोक्ष की प्राप्ति होती है और मृत्युञ्जयय बना जा सकता है। जो मृत्युञ्जयय मन्त्र को सिद्ध करता है वह स्वयं सिद्ध बन जाता है। पर उपाय के लिए अष्टांग योग को सिद्ध करना पड़ता है। संसार से विरक्त होकर 'शिवोऽहम्' ऐसी भावना से समाधि सिद्ध होती है तथा शिव में ध्यान केन्द्रित होता है वो पर उपाय है। इसे सिद्ध करने वाला सिद्ध पुरुष बन जाता है और स्थित प्रज्ञ की स्थिति को प्राप्त करता है। नेत्र तन्त्र के अधिकार में कहा गया है कि-

स्वपरस्थेषु भूतेषु जगत्यस्मिन् समानधी।
शिवोऽहमद्वितीयोऽहं समाधिः सः स्मृतः ॥ *(नेत्रतन्त्र, अष्टम अधिकार -18)*

भयंकर आपत्ति में से बचने के उपाय

जब मनुष्य मृत्यु के वश में हो जाता है तब मृत्यु का प्रतिकार करने के लिए भगवान् अमृतेश की आराधना करनी चाहिए। इसके लिए श्वेत वस्त्र पहनकर, श्वेत आसन पर बैठकर, भोजन में श्वेत वस्तुओं को ग्रहण कर, भक्तिपूर्वक शिव की उपासना करें। भगवान् सदाशिव कहते हैं—

यस्य नाम समुद्दिश्य पूजयेन्मृत्युजिद्विभुम्।
मृत्योरुत्तरते शीघ्रं सत्यं मे नानृतं वचः ॥ *(नेत्रतन्त्र, 6-10,11)*

मृत्यु अर्थात् अपमृत्यु और काल अर्थात् महा मृत्यु/अपमृत्यु में आकस्मिक दुर्घटना होती है। महामृत्यु शरीर की स्वाभाविक मृत्यु है। इससे बचने के लिए तीन मेखला वाले कुण्ड में, जिस व्यक्ति की मृत्यु बचानी हो उसके लिए सफेद रंग की मिश्री के साथ घृत, दूध, तिल, पवित्र लकड़ियाँ पसंद कर यज्ञ करना चाहिए। पलाश, वट, उदम्बर, आक, आम आदि की समिधा का उपयोग करें।

जहाँ तक हो सके शिव की उपासना एकान्त में करनी चाहिए। इससे उपासना में विघ्न नहीं होता। जिस व्यक्ति को मृत्यु से बचाना हो उसके नाम का उच्चारण करें। केवल मिश्री और दूध से भी हवन किया जाय तो भी मृत्यु को जीता जा सकता है। सुगंधित घृत और क्षीर वृक्षों की (जिस वृक्ष के पत्ते या डाली तोड़ने पर दूध

निकलता है- वट, पीपल आदि क्षीर वृक्ष कहलाते हैं) समिधा से यज्ञ करने से मृत्यु से जीता जा सकता है तथा तमाम प्रकार के ज्वर का नाश होता है। तिल, चावल, शहद, घृत और दूध इन पाँच द्रव्यों से अगर यज्ञ किया जाय तो सर्व दुष्टों का नाश होता है।

• शरीर के क्षीण होने पर उपाय

रोग इत्यादि कारणों से जब शरीर क्षीण हो रहा हो, रोग प्रतिरोधक क्षमता का नाश हो गया हो, शरीर घीस गया हो तब गुग्गल को घी और दूध में डुबोकर शहद के साथ हवन किया जाय तो शरीर पुष्ट बनता है।

• शरीर रोगों से घिर गया हो तब

जब शरीर रोग से घिर गया हो तब भाग्य बिना के मनुष्य भी मृत्युञ्जय मन्त्र के बीज से मन्त्र जप करे, तो भी वह सिद्ध होता है और पुष्टि मिलती है।

जिस व्यक्ति को मृत्यु का या रोग का भय हो उसके नाम के उच्चारण के साथ सम्पुट मंत्र करने से मृत्यु टल जाती है।

एक अन्य उपाय

जब मृत्यु का भय लगने लगे तब हृदय कमल में जीवात्मा चन्द्र मण्डल के बीच है ऐसी कल्पना कर विसर्ग के साथ 'स' और तीन बीज मन्त्रों के साथ संपुटित कर जप करने से मृत्यु टल जाती है।

हृत्पद्ममध्यगं जीवं चन्द्रमण्डलमध्यगम्।
साद्यर्णरोधितं कृत्वा मृत्योरुत्तरते भृशम् ॥ *(नेत्रतन्त्र, 6-21)*

अर्थात् कि 'सः हौं जूं सः' इस प्रकार जप करते समय आठों दिशाओं में चन्द्रमा की किरणे फैली हुई है और माला चन्द्र बिम्ब के मध्य में है ऐसी कल्पना करने से मृत्यु से बचा सा सकता है। 'सः' बीच महामाया बीज है क्योंकि विसर्ग स्वयं शक्ति है। सः चन्द्र बीज भी है इससे जीव को शरीर में रोककर रखता है। क्षीर समुद्र के बीच अमृत की लहरों में ऊपर और नीचे चन्द्रबिम्ब छाया हुआ है और उसकी किरणों से आत्मा स्नान कर रही है, ऐसी कल्पना कर 'सः' बीच से संपुटित महामृत्युञ्जय मन्त्र करने से सर्वरोग से मुक्त बना जाता है। आत्मा को आनन्द प्राप्त होता है और सर्वरोग से मुक्ति प्राप्त होती है।

सफेद रंग के अष्टकमल के प्रत्येक पंखुडी में 'सः' लिखकर बीज में भी 'सः' लिखकर सर्व रोग से पीडित मनुष्य अपने आपको चन्द्रमण्डल के मध्य में मानकर तथा चतुष्कोण में भगवान् इन्द्र वज्र से रक्षा करे रहे हैं ऐसी कल्पना करने से सर्व रोगों से मुक्त बनते हैं।

एक अन्य प्रयोग

सोलह दल कमल में सोलह स्वरों के सुशोभित महाचक्र में जीवात्मा को 'सः' बीज से तथा 'हं' बीच के अन्दर मानकर सः बीज से अन्दर और बाहर आत्मा रहित है ऐसी कल्पना कर मन्त्र को महात्युंजय मन्त्र (ॐ हौं जूं सः स्वाहा) के साथ स्वाहा जोड़कर उपासना करने से भी महामृत्यु से तैर जाते हैं।

प्रत्येक वर्ण को अमृतेश मन्त्र से संपुटित कर जप करने से, क से ह तक के अक्षरों को संपुटित कर जप करने से रोग मुक्त बना जाता है। सफेद चन्दन, गोरोचन और दूध से मन्त्र लिखकर, उसके ऊपर कपूर छिटकने से सर्व रक्षा प्राप्त की जा सकती है।

संक्षेप में भगवान् शिव की उपासना में सफेद वस्तुओं का उपयोग कर यज्ञ करने से इच्छित फल मिलता है। सफेद वस्तुओं में दूध घी, मिश्री कपूर सफेद चन्दन आदि वस्तुएं आती हैं। भगवान् शिव की उपासना जप द्वारा मन से करें। योग द्वारा आत्मा से करें। शरीर और इन्द्रियों द्वारा यज्ञ हवन आदि से करें। ये सभी उपासनाएँ सर्व इच्छित फल देने वाली हैं। भगवान् शिव की कीर्तन, पूजन, जप, हवन आदि कुछ भी निष्फल नहीं होता है, ऐसा नेत्र तन्त्र में वर्णित है।

8 राजतिलक बंगलोज,
ममता हॉस्पीटल के सामने,
आबादनगर, बस स्टाप के पास,
बोपल, अहमदाबाद-380058
मो. 9427624516

श्रीदुर्गासप्तशती के स्वरूप पर क्षेत्रीय प्रभाव एवं वैविध्य का चिन्तन

डॉ. घनश्याम चन्द्र उपाध्याय

भारतवर्ष के विभिन्न राज्यों में प्राकृतिक वातावरण, वाणी, वेषभूषा, खान-पान, परिवेश में पर्याप्त भिन्नताएँ दृष्टिगत होती हैं। इन सभी भिन्नताओं का *श्रीदुर्गासप्तशती* के प्रचलित स्वरूप पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है, जो पुरातन पाण्डुलिपियों में अवलोकनीय है। मार्कण्डेयपुराणस्य श्रीदेवीमाहात्म्य को दक्षिण भारत में आज भी अपने त्रयोदशाध्यायी मूल स्वरूप में ही पढ़ा जाता है, परन्तु उत्तर भारत में देश काल परिस्थिति के भेद एवं अधिक तांत्रिक प्रभाव के कारण अपने त्रयोदशाध्यायी मूल स्वरूप में षडंगों आदि के जुड़ाव के साथ श्रीदुर्गासप्तशती के स्वरूप में प्रचलित हो गया है। विभिन्न तान्त्रिक परम्पराओं के अनुक्रम में कवच, अर्गला, कीलक तथा रात्रिसूक्त आदि को सप्तशती पाठ के पूर्वार्ध के रूप में तथा देवीसूक्त एवं प्राधानिक वैकृतिक एवं मूर्ति रहस्यत्रय को पाठ के उत्तरांग के रूप में पढ़े जाने की परम्परा आज भी प्रचलन में है।

तान्त्रिक-परम्पराओं में भेद के कारण कवच, अर्गला और कीलक को पढ़े जाने के क्रम में भी भिन्नता देखने को मिलती है। *डामर तन्त्र* की परम्परा में क्रमशः कवच, अर्गला, कीलक के क्रम में पूर्वांगों का पाठ किए जाने का विधान है, जबकि अन्य परम्परा में अर्गला, कीलक व कवच के रूप में पढ़े जाने का उल्लेख *चिदम्बर संहिता* में प्राप्त होता है।

सप्तशती पाठ के उपरान्त प्राधानिक वैकृतिक एवं मूर्तिरहस्य के पाठ किए जाने की परम्परा में कुछ भिन्नताएँ विभिन्न क्षेत्रीय पाण्डुलिपियों में मिलती हैं, जो श्रीदुर्गासप्तशती की स्वरूपगत प्रचलित परम्परा पर क्षेत्रीय प्रभाव का प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस परिपेक्ष्य में शोधकर्ता को डेकन कालैज, पूना महाराष्ट्र के ग्रंथालय में निम्न दो महत्वपूर्ण पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुई हैं:-

1. एसेशन क्रमांक 7135, जिसमें देवी महात्म्य में षोडश-अध्याय होना उल्लिखित है—

   त्रिचरित्री रहस्यारख्य षोडशोध्याय रूपिणः।
   मार्कण्डेयपुराणस्थदेवीमाहात्म्यतो मुनिः।।

2. रजिस्टर क्रमांक 02 ग्रंथांक 4611 सप्तशतिका स्तोत्रम् (रहस्य सूक्त सहितम्) Folios 21c No11 two folios 8.1 x 4.2" Lines 05 Letters 16-19. पाण्डुलिपि में फलश्रुति के पूर्व निम्न उल्लेख प्राप्त होता है—

   इति रुद्रयामले घटतन्त्रे देवीसूक्तत्रयं सम्पूर्णम्।।

इस परिपेक्ष्य में शोधकर्ता को अपने शोधाध्ययन के दौरान ऐसी पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुई हैं जिनमें रहस्यत्रय के स्थान पर क्रमशः श्रीमहाकाली, श्रीमहालक्ष्मी तथा श्री महासरस्वती दिए गए हैं। ऐसी पाण्डुलिपि भी प्राप्त हुई जिसमें श्रीमहाकाली सूक्त, श्रीमहालक्ष्मी सूक्त तथा श्रीमहासरस्वती सूक्त (तीनों मार्कण्डेय पुराणस्थ) को क्रमशः प्रथम, मध्यम तथा उत्तर चरित्र के पूर्व दिया गया है।

3. श्रीदुर्गासप्तशती की पाण्डुलिपियों में रहस्यत्रय का स्वरूप—

कश्मीर की पाण्डुलिपियों में श्रीदुर्गासप्तशती पाठ के उत्तरांग के रूप में रहस्यत्रय के पाठ किये जाने की परम्परा नहीं रही है। यहां की परम्परा में इन रहस्यत्रय के स्थान पर इन्द्राक्षी-स्तोत्र अथवा त्रिपुराभारती-लघुस्तव अथवा इन दोनों को पढ़े जाने की परम्परा रही है। इस परिपेक्ष्य मे श्रीनगर-विश्वविद्यालय के अलामा-ग्रंथालय भवन की पांचवी मंजिल पर स्थित ऑरियन्टल रिसर्च लाइब्रेरी में उपलब्ध निम्न पाण्डुलिपियाँ द्रष्टव्य है—

1. पाण्डुलिपि क्रमांक 1734 (लिपि देवनागरी) के प्रारम्भ में श्रीशंकराचार्य विरचित सरस्वती - द्वादशनाम प्रारम्भ दिया है। इसके उपरान्त इस प्रति में कवच, अर्गला व कीलक यथावत् उपलब्ध हैं। पाण्डुलिपि में श्रीदेवीमाहात्म्य के त्रयोदश- अध्याय की समाप्ति पर निम्न उल्लेख किया गया है—

"इति श्रीसप्तशतिका समाप्तः "

इस पाण्डुलिपि में रहस्यत्रय श्रीदुर्गासप्तशती के षडंग के रूप में अनुपलब्ध हैं, परन्तु रहस्यत्रय के स्थान पर त्रिपुराभारती लघुस्तव तथा इन्द्राक्षी-स्त्रोत्र दिये हैं। कश्मीर की यह परम्परा जम्मू के रघुनाथ मन्दिर परिक्षेत्र में स्थित ग्रंथालय की पाण्डुलिपियों में भी पाई गई है।

दक्षिण भारतीय पाण्डुलिपियों में भी रहस्यत्रय के स्थान पर सौंदर्यलहरी, देवी-नामावली, ललिता सहस्रनाम आदि उपलब्ध हैं।

इस प्रसंग में निम्न पाण्डुलिपियों उल्लेखनीय है—

1. राष्ट्रीय-संस्कृत-विद्यापीठ, तिरूपति की पाण्डुलिपि क्रमांक 0081 (ए) में त्रयोदश - अध्याय के उपरान्त देवीसूक्त मालामंत्र सरस्वती सूक्त तथा लक्ष्मी सूक्त उलब्ध हैं। इस पाण्डुलिपि में रहस्यत्रय अनुपलब्ध हैं। यह पाण्डुलिपि ग्रंथ लिपि में ताड़पत्र पर उपलब्ध है।

2. फ्रेंन्च इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी ग्रंथालय, पॉण्डीचेरी की पाण्डुलिपि क्रमांक आर.ई. 26438 भी जीर्ण ताड़पत्र पर ग्रंथ लिपि में है। इस पाण्डुलिपि में पत्रांक 59-बीत क श्रीदेवी - माहात्म्य वर्णित है। इसमें त्रयोदश अध्यायों की समाप्ति के तुरन्त बाद सौन्दर्य लहरी तथा नामावली वर्णित है। इस पाण्डुलिपि में भी रहस्यत्रय अनुपलब्ध हैं।

3. फ्रेन्च इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी, पॉण्डीचेरी की ही अन्य पाण्डुलिपि क्रमांक आर.ई. 33694 में सप्तशती के पूर्ण हो जाने पर ललिता सहस्रनाम दिया गया है। यह पाण्डुलिपि भी ग्रंथ लिपि में ताड़पत्र पर उपलब्ध है तथा इस पाण्डुलिपि में भी रहस्यत्रय उपलब्ध नही है।

श्रीदुर्गासप्तशती पर क्षेत्रीय प्रभाव के उपर्युक्त विविचन से निम्न निष्कर्ष निकलते हैं—

(1) श्रीदुर्गासप्तशती में मार्कण्डेयपुराणस्थ श्रीदेवीमाहत्म्य के त्रयोदश अध्यायों के पूर्व कवच, अर्गला, कीलक तथा रात्रि सूक्त आदि पाठ के पूर्वार्द्धस्वरूप तथा देवीसूक्त एवं रहस्यत्रय (प्राधानिक वैकृतिक एवं मूर्ति रहस्य) पाठ के उत्तरार्द्धस्वरूप जोड़ दिये गये हैं।

(2) कवच, अर्गला तथा कीलक आदि पूर्वांगों का प्रयोग सप्तशती की पाण्डुलिपियों में सर्वत्र न्यूनाधिक रूप में पाया गया है।

(3) कश्मीर तथा दक्षिणभारतीय पाण्डुलिपियों में रहस्यत्रय का सर्वथा अभाव पाया गया है।

(4) कश्मीर तथा दक्षिणभारतीय पाण्डुलिपियों में रहस्यत्रय के स्थान पर श्रीमहाकाली, श्रीमहालक्ष्मी. श्रीमहासरस्वती सूक्तादि, इन्द्राक्षी-स्तोत्र, ललितासहस्रनाम आदि देवी-विषयक स्तोत्रादि पाये गये हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मार्कण्डेयपुराणस्थ त्रिपुराभारती-लघुस्तव, देवीमाहत्म्य त्रिचरित्री-त्रयोदशाध्यायी-स्वरूप की श्रीदुर्गासप्तशती में यथावत् प्रतिष्ठा उपलब्ध होती है, परन्तु श्रीदुर्गासप्तशती में कवचादि, रहस्यत्रयादि तथा सूक्तादि के प्रयोग से दोनों में तुलनात्मक रूप से भिन्नता दृष्टिगत होती है।

तारे सैकेण्डरी स्कूल के सामने,
रंगपुर रोड नं. 2
पो. कोटा जंक्शन (राजस्थान)
पिन-324002
दूरभाष : 9414177882

शाक्तागम में षट्चक्र योग

डॉ. योगेश प्रसाद पाण्डेय

शाक्तागम में प्रत्यक्ष रूप से अष्टांग योग का वर्णन प्राप्त न होने पर भी परोक्ष रूप से इस विधि को समर्थन देते हुए कुण्डलिनी योग की विधि वर्णन प्रसंग में कहते हैं कि यम और नियम के नित्य-नियमित आदरपूर्वक निरन्तर अभ्यास में लगा योगी साधक गुरुमुख से मूलाधार से सहस्रार-पर्यन्त कुण्डलिनी के उत्थापन क्रम को ठीक से समझ लेने के उपरान्त, पवन और दहन के आक्रमण से प्रतप्त कुण्डलिनीशक्ति को जो कि स्वयम्भू लिंग को वेष्टित कर सार्धात्रिवलयाकार में अवस्थित है, हुँकार बीज का उच्चारण करते हुए जगाता है और स्वयंभू लिंग के छिद्र से निकालकर उसे ब्रह्मद्वार तक पहुंचा देता है। कुण्डलिनी शक्ति पहले मूलाधार स्थित स्वयम्भू लिंग का, तब अनाहत चक्र स्थित बाण लिंग का और अन्त में आज्ञाचक्र स्थित इतर लिंग का भेद करती हुई ब्रह्मनाडी की सहायता से सहस्रदल चक्र में प्रविष्ट होकर परमानन्दमय शिवपद में प्रतिष्ठित हो जाती है। योगी अपने जीव भाव के साथ इस कुण्डलिनी को मूलाधार से उठाकर सहस्रार चक्र तक ले जाता है और वहाँ उसको परबिन्दु स्थान में स्थित शिव (पर लिंग) के साथ समरस कर देता है। समरस भावापन्न यह कुण्डलिनी शक्ति सहस्रार चक्र में लाक्षा के वर्ण के समान परमामृत का पान कर तृप्त हो जाती है और इस परमानन्द की अनुभूति को मन में संजोये वह पुनः मूलाधार चक्र में लौट आती है। यही है कुण्डलिनी योग की इतिकर्तव्यता। इसके सिद्ध हो जाने पर योगी जीवभाव से मुक्त हो जाता है और शिवभावापन्न (जीवन्मुक्त) हो जाता है।

कुण्डलिनी शक्ति कैसे सहस्रार स्थित अकुलशिव की ओर उन्मुख होती है और वहाँ शिव के साथ सामरस्य भाव का अनुभव कर पुनः कैसे अपने मूल स्थान में आ जाती हैं।[1] इसी प्रकार चार पीठों (क्षिति, पवन, जल एवं अग्निमण्डल) और चार लिङ्गों स्वयम्भू, वाण, इतर और परम) का स्वरूप हमें *योगिनीहृदय* में स्पष्ट रूप में मिलता है।[2]

कुण्डलिनी शक्ति

यह मानवलिंग शरीरमें सुषुम्नानाडी के सहारे 32 पद्यों की स्थिति मानी गयी है। सबसे नीचे और सबसे ऊपर दो सहस्रारपद्म स्थित हैं। नीचे कुलकुण्डलिनी में स्थित अरुण वर्ण सहस्रारपद्म ऊर्ध्वमुख तथा ऊपर ब्रह्मरन्ध्र स्थित श्वेत वर्ण सहस्रारपद्य अधोमुख हैं। इनमें से अधःसहस्रार को कुलकुण्डलिनी और ऊर्ध्व सहस्रार को अकुलकुण्डलिनी कहा जाता है। अकुलकुण्डलिनी प्रकाशात्मक अकार स्वरूपा और कुलकुण्डलिनी विमर्शात्मक हकारस्वरूपिणी मानी जाती है।

इन दो कुण्डलिनियों के अतिरिक्त तन्त्र शास्त्र के ग्रंथों में प्राणकुण्डलिनी का भी वर्णन मिलता है। मूलाधार में जैसे कुण्डलिनी का निवास है, उसी तरह से हृदय में भी 'सार्धत्रिवलया प्राणकुण्डलिनी' रहती है। मध्यनाही सुषुम्ना के भीतर चिदाकाश (बोधगमन) रूप शून्य का निवास है। उससे प्राणशक्ति निकलती है। इसी को अनच्क कला भी कहते हैं। इसमें अनच्क (अच्=स्वर से रहित) हकार का निरन्तर नदन होता रहता है। यह नाद भट्टारक की उन्मेष दशा है, जिससे कि प्राणकुण्डलिनी की गति ऊर्ध्वोन्मुख होती है, जो श्वास-प्रश्वास, प्राण-अपान को गति प्रदान करती है और जहाँ इनकी एकता का अनुसन्धान किया जा सकता है। मध्य नाडी में स्थित बिना क्रम के स्वाभाविक रूप से उच्चरित होने वाली यह प्राणशक्ति ही अनच्क कला कहलाती है। इस अनच्क कला रूप प्राणशक्ति को कुण्डलिनी इसलिए कहते हैं कि मूलाधार स्थित कुण्डलिनी की तरह इसकी भी आकृति कुटिल होती है। जिस प्राणवायु का अपान अनुवर्तन करता है, उसकी गति हकार की लिखावट की तरह टेढ़ी-मेढ़ी होती है। प्राणशक्ति अपनी इच्छा से ही प्राण के अनुरूप कुटिल (घुमावदार) आकृति धारण कर लेती है। प्राण शक्ति की यह वक्रता (कुटिलता= घुमावदार आकृति) परमेश्वर की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का खेल है। प्राण शक्ति का एक लपेटा वामनाडी इडा में और दूसरा लपेटा दक्षिण नाडी पिंगला में रहता है। इस तरह से इसके दो वलय (घेरे) बनते हैं। सुषम्ना नामकी मध्य नाडी सार्ध कहलाती है। इस प्रकार यह प्राणशक्ति भी सार्धत्रिवलया है। वस्तुतः मूलाधार स्थित कुण्डलिनी में ही प्राणशक्ति का निवास है, किन्तु हृदय में इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति होने से ब्राह्मणवसिष्ठ न्याय से उसका यहा पृथक् उल्लेख कर दिया गया है। इसका प्रयोजन अजपा (हंस गायत्री) जप को सम्पन्न करना है।

षट्चक्र निरूपण

कुण्डलिनी योग को षट्चक्र योग के नाम से भी जाना जाता है और कहीं-कहीं इसे नाडीयोग भी कहते हैं, क्योंकि शरीरस्थ कुण्डलिनी शक्ति नाड़ियों के माध्यम से षट्चक्र भेदन करते हुए सहस्रारस्थ पर शिव से मिलती है तभी साधक की ऐहिक तथा नैसर्गिक सिद्धियों के साथ अन्तिम अभिलाषा ब्रह्मज्ञान की सिद्धि होती है। अतः यहाँ पर षट्चक्र निरूपण के साथ नाडियों का भी निरूपण एवं कुण्डलिनी योग विधि का निरूपण किया जाता है जैसा कि- सर्वप्रथम नाडी वर्णन प्रसंग में यथा-

तिस्रः कोटयस्तदर्द्धेन शरीरे नाडयो मताः।
प्रधाना मेरुदण्डान्तश्चन्द्रसूर्याग्निरूपिणी।
शक्तिरूपा तु सा नाडी साक्षादमृतविग्रहा।।[3]

अर्थात् शरीर में सार्द्ध तीन कोटि (साढ़े तीन करोड़) नाड़ी निरूपित है। उस नाडी समूहों के मध्य में दस नाड़ियों को मुख्य कहा गया है। उन दसों में से तीन नाड़ी श्रेष्ठ कह कर निर्णीत हुआ है। मेरुदण्ड के अभ्यन्तर में चन्द्र, सूर्य तथा अग्निस्वरुपिणी प्रधान नाड़ी सुषुम्ना अवस्थित है। मेरुदण्ड के बायें तरफ शुक्लवर्णा चन्द्रस्वरुपिणी इड़ा नाड़ी अवस्थित है। वह नाड़ी शक्तिस्वरूपा तथा साक्षात् चन्द्र उनके देह हैं: अर्थात् वह

चन्द्रस्वरूपा है। पिङ्गला नामक जो नाड़ी (मेरुदण्ड) दक्षिण तरफ अवस्थित है, वह पुरुष रूप तथा सूर्य उनके देह स्वरूप है।

मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक जो नाड़ी मेरुदण्ड के मध्य में अवस्थित है, वही सर्वतेजोमेयी बह्निस्वरूपा सुषुम्ना नाड़ी है। दाड़िमी..... पुष्प के समान रक्तवर्ण शिवनाम्नी दूसरी एक नाड़ी (योगीगण द्वारा मेरुदण्ड के अभ्यन्तर) ज्ञात हुआ है। सुषुम्ना के अभ्यन्तर में (भीतर) कोटि चन्द्र तुल्य दीप्ति शालिनी चित्रा नाड़ी अवस्थित हैं। वह चित्रा नाड़ी सर्वदेवमयी तथा योगीगणों के ज्ञानवेद्या अर्थात् योगीगण ही उस चित्रा नाड़ी को देख पाते हैं। उस चित्रा नाड़ी के मध्य में मृणालतन्त्र (कमल के डंठे के भीतर जो धागा) तुल्य सूक्ष्म ब्रह्मनाड़ी (मूलाधार स्थित) स्वयम्भूलिङ्ग का (हर के) मुखविवर से (सहस्रदल पद्मस्थित) सदाशिव पर्यन्त अवस्थित है। उस नाड़ी के मध्य में अर्थात् स्वयम्भूलिङ्ग के मुखविवर के समीप ब्रह्मनाड़ी के मुख देश में ब्रहारन्ध (कुण्डलिनी के शिव समीप में गमनागमन के पथरूप ब्रह्मद्वार) अवस्थित हैं।[4]

षट्चक्र निरूपण क्रम में मूलाधार चक्र निरूपण—

सुषुम्नाग्रन्थिसंस्थानि षट्पद्मानि यथाक्रमम्।
आधाराख्यं मूलचकमतिरिक्तं चतुर्दलम्।
वादिसान्तार्णसंयुक्तं रक्तवर्णं मनोहरम्।।[5]

अर्थात् मूलाधारादि षट्पद्म (चक्र) यथाक्रम से सुषुम्ना-ग्रन्थि में अवस्थित है। मूलाधार नाम मूलचक्र गाढ़ारक्तवर्ण है तथा चतुर्दल विशिष्ट है। ये दल व, श, ष, स इन चार वर्णों के द्वारा संयुक्त, रक्तवर्ण तथा मनोहर है। मूलाधार पद्म की कर्णिका में परमेश्वरी कामाख्या योनिरूपा में अवस्थित है। हे परमेश्वरि! वह योनि डाकिनी शक्ति है इच्छा ज्ञान तथा क्रियास्वरूपिणी है। मूलाधार पद्म में कर्णिका के धरा बीज के ऊर्ध्व में उस त्रिकोण के ऊपर कन्दर्प नामक वायु अवस्थित है। हे परमशक्ति! उस त्रिकोण के बीच श्यामसुन्दर नीलवर्ण सच्छिद्र अधोमुख स्वयम्भू नामक शिवलिङ्ग का ध्यान करना। कुण्डलिनी उस रास्ते से ब्रह्मनाड़ी की सहायता से यातायात करती हैं। कुण्डलिनी शक्ति बार-बार भेद करके अर्थात् स्वयम्भू, बाण तथा इतर नामक लिङ्गत्रय एक-एक के भेद करके छः चक्रों के बीच में से सदाशिवपुर में गमन करते हैं तथा वहाँ से (मूलाधार चक्र में) प्रत्यावर्तन करते हैं।

हे महेश्वरि! उस पद्म में तडित् माला तुल्य दीप्तिमयी प्रसुप्त सर्प के समान कुण्डलाकृति सार्द्धत्रिवलयुक्ता (साढ़े तीन वलय युक्ता) पर देवता कुण्डलिनी मृणालतन्तु के समान वामावर्त्त में शिव का वेष्टन किया हुआ है। उन्होंने शिव को वेष्टन करके (बाँधकर) सदा सर्वदा अवस्थित हैं। जिस पथ से (कुण्डलिनी) परब्रह्म के निकट गमन करते हैं, परमेश्वरी कुण्डलिनी उस रास्ते को मुख के द्वारा आच्छादित करके सोयी हुई रहती है। यह चक्र 6 आधारों का मूल है, इसलिए इसे मूलाधार कहते हैं।"[6]

स्वाधिष्ठान-मणिपूरचक्र निरूपण—

लिङ्गमूले महापद्मं स्वाधिष्ठानन्तु षड्दलम्।
यादि-लान्तार्ण-संयुक्तं नाभौ तु मणिपूरकम्।
डादि-फान्तान्वित-दलैररुणैर्दशभिर्युतम्।।[7]

अर्थात् लिङ्ग मूल में स्वाधिष्ठान नामक षड्दल महापद्म अवस्थित हैं। उस पद्म के दल समूह व, भ, म, य, र, ल- इन छः वर्णों के द्वारा संयुक्त है। नाभिदेश में मणिपुर नामक पद्म डकारादि फकारान्त दस वर्ण युक्त अरुणवर्ण दस दल के द्वारा संयुक्त होकर अवस्थान कर रहे हैं।

अनाहतपद्म निरूपण—

हृदये द्वादशदलमनाहतसरोरुहम्।
कादि-अन्तदलैर्देवि तप्तहटकसन्निभम्।।
तन्मध्ये वाणलिङ्गन्तु सूर्यायुतसमप्रभम्।
शब्दब्रह्ममयो मन्त्रोऽनाहतस्तत्र दृश्यते।
तेनाहताख्यं तत्पद्मं योगिभिः परिकीर्तितम्।।[8]

हे देवि! उत्तप्त (तपता हुआ) स्वर्ण के समान उज्ज्वल द्वादश दल अनाहत पद्म हृदय में अवसान करते हैं। उसका दल समूह ककार से ठकार तक द्वादश 12 वर्णों के द्वारा संयुक्त है। उस पद्म के मध्य में अयुत (संख्यक) सूर्य के समान उज्ज्वल वर्णलिङ्ग अवस्थित है। अनाहत शब्द-ब्रह्ममय मन्त्र (हंसमंत्र) उस पद्म में देखा जाता है, इसलिए योगीगणों के द्वारा वह पद्म अनाहत नाम से कहा गया है।

विशुद्धचक्र निरूपण—

कण्ठदेशे विशुद्धाख्यं धूम्रवर्णं मनोहरम्।
अकारादि-स्वरोपेतैर्दलैः षोडशभिर्युतम्।।
विशुद्धिस्तन्यते यस्माज्जीवस्य हंसलोकनात्।
विशुद्धपद्ममाख्यातमाकाशाख्यं महाद्भुतम्।।[9]

अर्थात् कण्ठदेश में षोडश 16 दल विशुद्ध नामक धूम्रवर्ण मनोहर पद्म है। उस पद्म के सभी दल अकारादि षोडश 16 वर्णों के द्वारा संयुक्त है जिस कारण (यह) जीव के शब्द ब्रह्ममय हंसबीज के अवलोकन द्वारा विशुद्धि जन्मता है, उस कारण वह अत्यद्भुत आकाश नामक विशुद्ध पद्म कहकर प्रख्यात हुआ है।

आज्ञाचक्र निरूपण—

आज्ञानाम भ्रुवोर्मध्ये चक्रञ्च द्विदलं परम्।
हक्ष-द्वयक्षर-संयुक्तं निर्मलं सुमनोहरम्।।
इतराख्यं महालिङ्ग तन्मध्ये काञ्चनप्रभम्।

आज्ञासंक्रमणं तत्र गुरोराज्ञेतिविश्रुतम्।
कैलासाख्यं तदूर्ध्वं तु बोधिनीं तु तदूर्ध्वतः॥[10]

अर्थात् दोनों भौओं के बीच ह-क्ष यह दोनों वर्ण संयुक्त निर्मल सुमनोहर आज्ञा नामक द्विदल एक चक्र में हैं। उसके मध्य में काञ्चनतुल्य (सोने के समान) उज्ज्वल इतर नामक महालिङ्ग वर्तमान है। उस चक्र में गुरु की आज्ञा का संक्रमण होता है, इसलिए वह 'आज्ञा' इस नाम से प्रसिद्ध है। उसके ऊपर अर्थात् आज्ञाचक्र के ऊपर कैलाश नामक शिव (द्वितीय बिन्दु) एवं उनके ऊपर अर्धमात्राकार बोधिनी शक्ति अवस्थान करते हैं।

सहस्त्रारचक्र निरूपण—

सहस्रारं महापद्मं नादबिन्दुसमन्वितम्।
शून्यरूपः शिवः साक्षाद् वृत्तं परमकुण्डली।
सार्द्ध त्रिवलयाकारा कोटिविद्युत्समप्रभा।[11]

अर्थात् पर शङ्खिनी नाड़ी के मस्तक पर नादबिन्दु समन्वित सहस्त्रार पद्म वर्तमान है, उसके मध्य में शून्यभाग साक्षात् शिव स्वरूप हैं तथा वृत्त है। सार्द्ध त्रिबलयवेष्टिता कोटि विद्युन्माला के समान उज्ज्वल परमकुण्डलिनी है। वही पर *यामल* तन्त्र में कहा है कि- गुणत्रयान्विता कुण्डलिनी शक्ति ही वृत्त है और सहस्रार पद्म के शून्यभाग शिवरूप महेश्वर सर्पाकारा कुण्डलिनी शिव को वेष्टन करके बाँध कर सदा उसी स्थान में वर्तमान है। शिव शक्ति-स्वरूप बिन्दु भोग तथा मोक्ष प्रदान करते हैं। उस सनातनी कुण्डलिनी देवि नाद रूप शिव के साथ मिलकर प्रकृति बन जाती है, प्रकृति हो जाती है।[12]

भूतशुद्धि तन्त्र में कहा गया है—बिन्दुरूपिणी प्रकृति शिव, विष्णु तथा ब्रह्मस्वरूप हैं। इन सभी के ऊपर ब्रह्मस्वरूप बिन्दु विराजमान हैं[13] *गन्धर्वमालिका* तन्त्र में कहा गया है—भव (महेश्वर) बिन्दु नाम से प्रख्यात है तथा त्रिकोण भवन के रूप में प्रसिद्ध है। भव का सम्बन्ध (अवस्थित) प्रयुक्त वह भवन हुए हैं तथा उससे ही त्रिभुवन उत्पन्न होता है। (मूलाधारादि पाँचों चक्र में) पञ्च महाभूत तथा षष्ठचक्र में (सहस्रार में) चित्त (मन) अवस्थित है। यथाक्रम से इन सभी को षट्चक्र में अवस्थित है—ऐसी चिन्ता करना। सहस्रार पद्म शिवपुर है, वह मनोहर वृक्ष के द्वारा चतुर्दिक सोभित है। वहीं *गन्धर्वमालिका* तन्त्र में और भी कहा गया है—

सदाशिवपुर परम रमणीय है, उसमें सुशोभित कल्पवृक्ष वर्तमान है, वह त्रिगुणात्मक कल्पवृक्ष पञ्चमहाभूत स्वरूप है। ऋक् यजुः, साम तथा अथर्वरूप चारों वेद उनकी चार शाखाएँ हैं।सदा सर्वदा उसमें फल पुष्प लगे हैं। उस वृक्ष में पीत, कृष्णा (काला) पीला, श्वेत (सफेद), रक्त (लाल) हरित (हरा) तथा विचित्र पुष्प—इस प्रकार मनोहर विभिन्न पुष्प लगे हैं। इस प्रकार कल्प वृक्ष का ध्यान करके उसके अधोभाग में रत्नवेदिक्का का ध्यान करना। उस रत्नवेदिका के ऊपर विभिन्न प्रकार के रत्नों से सुशोभित मन्दार पुष्प युक्त नाना प्रकार के गन्धों से आमोदित एक सुन्दर पर्यङ्क (पलङ्ग) है। उस (पलङ्ग) पर महादेव सर्वदा विराजमान हैं। हे प्रिये! उस पलङ्ग के ऊपर स्फटिक सदृशशुक्ल शुभ्रवर्ण सदाशिव देव का सतत इसी प्रकार चिन्ता करना

वह सदाशिव बहुरत्नों के द्वारा अलंकृत है, उनका बाहुयुगल दीर्घ तथा मनोहर, नयनद्वय (दोनों आँख) आनन्द से उज्ज्वल तथा प्रसन्न है मुख स्मित हास्य युक्त है, कानों में कुण्डल हैं। देह (कण्ठदेश) रत्नाहारों के द्वारा शोभित है; उनके आठ, बाहु, कमल दल के सदृश प्रशस्त तथा आयत तीन नेत्र हैं, दोनों पैरों में मनोहर नुपूर; उनका देह शब्द ब्रह्म रूप (अर्थात् शब्दमय है)। हे कमलक्षणे! शिव को तथा उनके स्थूल देह की इस प्रकार चिन्ता करना। षट्चक्र पद्म में अवस्थित शब्दरूपी शिव की निश्चेष्ट भावना करना क्योंकि शब्दरूप महादेव के सम्बन्ध में कभी भी कोई कृत्य नहीं है। इस प्रकार मूलाधारादि समस्त चक्र में शक्ति एवं रुद्र की चिन्ता करना।

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव तथा उसके बाद परशिव- (षट्चक्र में) ये छः शिव कीर्त्तित हुए हैं। शक्ति कह रही हैं- विशुद्ध चक्र में डाकिनी देवी, अनाहत चक्र में राकिणी, मणिपुर में लाकिनी, स्वाधिष्ठान ब्रह्मरन्ध्र स्थिता याकिनी सभी काम्यफल प्रदान करती है। स्वयम्भूलिङ्ग पर अवस्थित कुण्डलिनी देवी का इस प्रकार ध्यान करना। उन्हें श्यामवर्णा, सूक्ष्मा, सृष्टिस्थित लयस्वरूपा, विश्वातीता, ज्ञानरूपा तथा ऊर्ध्वगामिनी चिन्ता करना। सुन्दरी के विषय में इन्हें रक्तवर्णा जानना अर्थात् सुन्दरी के उपासक गण इन्हें रक्त वर्णा जानकर ध्यान करेंगे। हुङ्कार वर्ण सम्भूता पर देवता कुण्डलिनी हंस मन्त्र के द्वारा अपने कुण्डली सर्पाकार देह पोषण करती है।[14]

सन्दर्भ

1. *नित्याषोडशिकार्णव*, 4/12-16
2. *योगिनीहृदय*, पटल-1, चक्र संकेत, श्लोक सं0 41-47
3. *शाक्तानन्द तरङ्गिणी*, चतुर्थ उल्लास, श्लोक 24-25.
4. *शाक्तानन्दतङ्गिणी*, चतुर्थ उल्लास, श्लोक सं0 26-29.
5. *शाक्तानन्दतरङ्गिणी*, चतुर्थ उल्लास, श्लोक सं0 31.
6. शाक्तानन्दतरङ्गिणी, चतुर्थ उल्लास, श्लोक सं0 32-37.
7. *शाक्तानन्दतरङ्गिणी*, चतुर्थ उल्लास, श्लोक सं0 39.
8. *शाक्तानन्दतरङ्गिणी*, चतुर्थ उल्लास, श्लोक सं0 40-42.
9. *शाक्तानन्दतरङ्गिणी*, चतुर्थ उल्लास, श्लोक सं0 42-44.
10. *शाक्तानन्दतरङ्गिणी*, चतुर्थ उल्लास, श्लोक सं0 45-46.
11. *शाक्तानन्दतरङ्गिणी*, चतुर्थ उल्लास, श्लोक सं0 87-50.
12. *शाक्तानन्दतरङ्गिणी*, चतुर्थ उल्लास, यामल, श्लोक सं0 51-52.
13. *शाक्तानन्दतरङ्गिणी*, चतुर्थ उल्लास, भूतशुद्धितन्त्र, श्लोक सं0 53-54.
14. *शाक्तानन्दतरङ्गिणी*, चतुर्थ उल्लास, गन्धर्वमालिका तन्त्र, श्लोक सं0 55-71.

पूर्व अनुसन्धाता
वैदिक दर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी-221005

चरकीय दर्शन में ज्ञानमूला शान्ति का स्वरूप

डॉ. विश्वावसु गौड एवं (राष्ट्रपति-सम्मानित) प्रो. वैद्य बनवारीलाल गौड

भारतीय दर्शनों में "शान्ति" का स्वरूप केवल बाह्य संघर्षों की समाप्तिमात्र नहीं, अपितु एक गहन, अन्तरात्मिक और चिरस्थायी स्थिति है। यह स्थिति एक साधक के तप, आत्मानुशासन और मानसिक समभाव के द्वारा अर्जित होती है। शान्ति का शुद्ध एवं श्रेष्ठ स्वरूप ज्ञानमूला शान्ति है, इस ज्ञानमूला शान्ति की प्राप्ति में तितिक्षा प्राथमिक रूप से अपेक्षित है। इस शान्ति की प्राप्ति के लिए जो सबसे आवश्यक गुण है वह है—तितिक्षा अर्थात् सहिष्णुता, सहनशीलता या दुःख-सहन करने की क्षमता।

तितिक्षा का महत्त्व केवल दार्शनिक चिन्तन में नहीं, अपितु मनोवैज्ञानिक, चिकित्साशास्त्रीय तथा सामाजिक स्तरों पर भी विद्यमान है। यही कारण है कि भारतीय दर्शन, विशेषतः वेदान्त, सांख्य, योग, एवं आयुर्वेद इन सभी में तितिक्षा को एक अनिवार्य नैतिक गुण के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

वर्तमान में उपलब्ध आयुर्वेद के प्रामाणिक ग्रन्थों में चरकसंहिता प्रथमतः गणनीय है, यह मूलतः अग्निवेशतन्त्र है जिसमें उपदेष्टा महर्षि आत्रेय ने अग्निवेश इत्यादि 6 शिष्यों को आयुर्वेद का उपदेश दिया। इन सभी 6 शिष्यों ने उस गृहीत ज्ञान को पृथक्-पृथक् रूप से तन्त्रों में उपनिबद्ध किया। इनमें अग्निवेशतन्त्र सर्वाधिक प्रचारित हुआ, जो वर्तमान में भी पूर्णरूपेण व्यवस्थित रूप से उपलब्ध है। इसके मूल स्वरूप को प्राथमिक रूप से दो बार प्रतिसंस्कृत किया गया। वर्तमान में यह उस प्रतिसंस्कृत स्वरूप में उपलब्ध है। प्राचीन शास्त्रों के लिए प्रतिसंस्कार एक ऐसी प्रक्रिया रही है जिसमें ग्रन्थ को युगानुरूपसन्दर्भ में परिवर्तित और परिवर्धित किया जाकर उपयोगी स्वरूप में प्रस्तुत किया जाता है।

यद्यपि चरकसंहिता में आयुर्वेद के सिद्धान्तों और व्यावहारिक प्रयोगों को आठ अङ्गों में विभक्त करके उपनिबद्ध किया गया है, पुनरपि इस में कायचिकित्सा-सम्बन्धी विषयों का प्रावधान सर्वाधिक है। स्वस्थ के स्वास्थ्य के संरक्षण एवं आतुर के विकार के प्रशमनरूपी प्रयोजन वाले इस तन्त्र में सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति अनुक्रोश (अनुकम्पा) को प्रदर्शित करते हुए जो उपदेश दिये गए हैं वे सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक हैं, इनके अतिरिक्त अनेक स्थलों पर प्रसङ्गवश दार्शनिक भाव भी प्रकट किए गए हैं, क्योंकि इन सम्पूर्ण उपदेशों का चरम उद्देश्य शरीर को स्वस्थ रखते हुए उसके माध्यम से पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति ही प्रथमतः निर्दिष्ट है। यथा—

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।।15।।
रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसो जीवितस्य च। *(चरकसंहिता 1/15-16)*

इसे स्पष्ट करते हुए चक्रपाणि कहते हैं कि—

उत्तममिति प्रधानं; तेनारोग्यं चतुर्वर्गे प्रधानं कारणं,
रोगगृहीतस्य क्वचिदपि पुरुषार्थेऽसमर्थत्वादित्युक्तम्। *(चक्रपाणि)*

इससे यह स्पष्ट है कि महर्षि आत्रेय एवं उनके शिष्य महर्षि अग्निवेश तथा अग्निवेशतन्त्र का प्रतिसंस्कार करने वाले महर्षि चरक, इन सब का चरम लक्ष्य शरीर को पूर्णरूपेण स्वस्थ रखते हुए उसके माध्यम से मोक्षप्राप्ति करना ही रहा है। इसलिए चरकसंहिता में अनेक स्थलों पर प्रसङ्गवश दार्शनिक भावों की भी स्पष्ट अभिव्यक्ति की गई है। यद्यपि कहीं पर भी अन्य दार्शनिकों से कोई विशेष मतभेद इनका नहीं रहा है, फिर भी चरकीय दर्शन का अपना अलग महत्त्व है जिसमें शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्यप्राप्ति के माध्यम से ही मोक्षप्राप्ति का उद्देश्य मानकर विभिन्न प्रसङ्गों में विशिष्ट दार्शनिक भावों की अभिव्यक्ति की गई है। ज्ञानमूला शान्ति भी इसी सन्दर्भ में विश्लेषित एवं वर्णित है।

चरकसंहिता में दार्शनिक भावों का पर्याप्त रूप से उल्लेख है यद्यपि तत्कालीन परिस्थितियों में अनेक दर्शनसम्बन्धी विचार प्रचलित थे जिन का अनुसरण करते हुए भी महर्षि ने इन्हें यथास्थान अपनी दृष्टि से परिवर्तित और परिवर्धित भी किया है। अतः विद्वानों का मानना है कि चरकीय दर्शन का अपना एक विशिष्ट महत्त्व है जिसे उन्होंने अपने भावों के अनुरूप प्रदर्शित किया है।

चरकसंहिता में शान्ति के सम्बन्ध में भी दार्शनिक भाव ही प्रकट किए गये हैं। आचार्य चरक का मानना है कि शान्ति के भावों को व्यवस्थित रखे विना मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य का संरक्षण और उनके विकारों का प्रशमन करना अत्यन्त कठिन है तथा शान्ति की प्राप्ति किए विना परम ब्रह्म की प्राप्ति असम्भव है। मोक्ष का मार्ग दिखाने में शान्ति का प्राथमिक स्थान है, यह शान्ति तितिक्षा के विना सम्भव नहीं है। महर्षि चरक कहते हैं कि ज्ञानमूला शान्ति ही सर्वोत्कृष्ट है और वही उपयोगी है, यथा—

लोके विततमात्मानं लोकं चात्मनि पश्यतः।
परावरदृशः शान्तिर्ज्ञानमूला न नश्यति।। *(च.शा.5/20)*

लोक में (संसार में) अपने आप को और अपने में लोक को व्याप्त देखते हुए श्रेष्ठ ब्रह्म और अश्रेष्ठ महान्, अहङ्कार इत्यादि को समझने वाले तत्त्वदर्शी व्यक्ति की ज्ञानमूला शान्ति कभी भी नष्ट नहीं होती है।

"परावरदृशः" का तात्पर्य है जो पर अर्थात् आत्मा को एवं अवर अर्थात् आत्मा से भिन्न प्रकृति आदि को देखता है उस तत्त्वज्ञानी की ज्ञानमूला शान्ति नष्ट नहीं होती है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि जो मोहमूला शान्ति होती है वह अस्थिर होती है तथा जो ज्ञानमूला शान्ति होती है वह स्थिर होती है और वह कभी नष्ट

नहीं होती, जिसको तत्त्वज्ञान होता है उसी को पारमार्थिक शान्ति प्राप्त होती है। इसकी व्याख्या करते हुए चक्रपाणि कहते हैं कि-

> **लोके विततमात्मानमिति लोकरूपमात्मानं, तथा लोकं चात्मनि शरिरात्ममेलकरूपे पश्यतः, 'व्यवस्थितं' इति शेषः। परावरदृश इति परम् आत्मानम्, अवराणि आत्मव्यतिरिक्तानि प्रवृत्यादीनि, यः पश्यति तस्य परावरदृशः। ज्ञानमूलेत्यनेन मोहमूलामस्थिरां शान्तिं निरस्यति।।**
> *(च.शा.5/20 चक्रपाणि)*

अमरकोशकार कहते हैं- "**क्षान्तिस्तितिक्षा**"। यहाँ पर क्षान्ति एवं तितिक्षा ये दूसरे की उन्नति को सहन करने के दो नाम दिए गए हैं। इसकी व्याख्या करते हुए रामाश्रमी टीका में कहा गया है कि—**"क्षान्तिरिति, क्षमणम्। "क्षमू सहने" दिवादिः।"** इसी तरह तितिक्षा की पदसिद्धि को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि—**"तिजेः (भ्वादिः) क्षमायां सन् (3/ 1/ 15) तदन्तादप्रत्यये (3/3/102) टाप् (4/1/4)"**। रामाश्रमी व्याख्या के अन्त में कहा गया है कि "द्वे क्षमायाः" अर्थात् क्षमा के दो नाम है।

संस्कृत-हिन्दीकोश (वामन शिवराम आप्टे) में तितिक्षा को इस प्रकार से स्पष्ट किया गया है—**तितिक्षा- तिज्+सन्+अ+टाप्, द्वित्वम्। सहनशक्ति, सहिष्णुता, त्याग, क्षमा।** अतः यह स्पष्ट है कि तितिक्षा का शाब्दिक अर्थ सहिष्णुता एवं त्याग भी होता है।

इसे इस तरह से भी स्पष्ट किया जाना चाहिए कि शान्ति तभी सम्भव है जब मन में क्षमा (क्षान्ति) का भाव हो, क्षमा (क्षान्ति) भी तभी सम्भव है जब तितिक्षा या सहिष्णुता हो। सहिष्णुता के नहीं होने पर काम, क्रोध, मोह, लोभ इत्यादि मानसिक विकारों में से कोई सा भी विकार प्रतिक्रियास्वरूप तत्काल प्रकट होता है।

इस सन्दर्भ में तितिक्षा को विश्लेषणपूर्वक स्पष्ट करना परमावश्यक है क्योंकि तितिक्षा शान्ति का सर्वोत्कृष्ट हेतु है। तितिक्षा का तात्पर्य है सहिष्णुता, जो व्यक्ति दूसरे के द्वारा किए गए ईर्ष्या, क्रोध, हिंसा अथवा कायिक, वाचिक एवं मानसिक विकृतिमूलक कर्मों को सहन कर लेता है वह त्यागी होता है तथा सहन कर लेना (सहिष्णुता होना) ही क्षमा के भाव की अभिव्यक्ति होना है। अतः तितिक्षा का शाब्दिक अर्थ सहिष्णुता होते हुए भी क्षमामूलक है, सहिष्णुता होने पर ही शान्ति की स्थापना की जा सकती है। अतः यह कहना सर्वथा उपयुक्त है कि शान्ति मूलरूप से तितिक्षाधर्मिणी होती है।

महर्षि चरक ने ज्ञानमूला शान्ति को श्रेष्ठ माना है, यहाँ ज्ञान का तात्पर्य है शुद्ध सात्त्विक एवं पारमार्थिक ज्ञान, इस ज्ञान को प्राप्त करने की प्रक्रिया में तितिक्षा की प्राप्ति परमावश्यक है। यद्यपि चरकसंहिता में तितिक्षा के स्थान पर सहिष्णुता पद का ही प्रयोग है। तितिक्षा पद का कहीं भी प्रयोग नहीं है, जबकि सुश्रुतसंहिता में सात्त्विक गुणों का उल्लेख करते समय तितिक्षा का भी निर्देश किया गया है, यथा—

सात्त्विकास्तु- आनृशंस्यं संविभागरुचिता तितिक्षा सत्यं धर्म आस्तिक्यं ज्ञानं बुद्धिर्मेधा स्मृतिर्धृतिरनभिषङ्गश्च। ***(सुश्रुत. शारीर. 1/18)***

इसकी व्याख्या में डल्हण ने तितिक्षा का अर्थ क्षमा किया है। सहिष्णुता एवं क्षमा समानार्थक हैं, जब तक सहिष्णुता का भाव नहीं होगा तब तक क्षमा का होना सम्भव नहीं है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि चरकसंहिता में कहीं पर भी तितिक्षा शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है, लेकिन क्षमा और सहिष्णुता का प्रयोग अनेक स्थलों पर है, महर्षि चरक ने सद्वृत्त का उपदेश करते हुए यह स्पष्ट निर्देश दिया है कि धार्मिक एवं आस्तिक व्यक्ति का क्षमावान् होना परमावश्यक है। यथा—

तद्ध्यनुतिष्ठन् युगपत् सम्पादयत्यर्थद्वयमारोग्यमिन्द्रियविजयं चेति; तत् सद्वृत्तमखिलेनोपदेक्ष्यामोऽग्निवेश! तद्यथा-

..... वश्यात्मा, धर्मात्मा, हेतावीर्ष्युः, फले नेर्ष्युः, निश्चिन्तः, निर्भीकः, ह्रीमान्, धीमान्, महोत्साहः, दक्षः, क्षमावान्, धार्मिकः, आस्तिकः, विनयबुद्धिविद्याभिजन- वयोवृद्धसिद्धाचार्याणामुपासिता..... सत्यसन्धः, सामप्रधानः, परपरुषवचनसहिष्णुः, अमर्षघ्नः, प्रशमगुणदर्शी, रागद्वेषहेतूनां हन्ता च।। ***(चरक. सूत्र. 8/18)***

चक्रपाणि ने अपनी व्याख्या में विशिष्ट शब्दों को निम्नानुसार स्पष्ट किया है, यथा-

..... अमर्षः अक्षमा, तां हन्तीति अमर्षघ्नः। प्रशमं शान्तिं गुणत्वेन द्रष्टुं शीलं यस्य स प्रशमगुणदर्शी।। *(चरक. सूत्र* ***8 /18*** *चक्रपाणि)*

चरकसंहिता के सूत्रस्थान के 18 वें अध्याय के 51 वें सूत्र की व्याख्या करते हुए चक्रपाणि ने क्षमा के पर्याय के रूप में सहिष्णुता का उल्लेख किया है। यथा—

स्नेहो बन्धः स्थिरत्वं च गौरवं वृषता बलम्।
क्षमा धृतिरलोभश्च कफकर्माविकारजम्।। ***(चरक.सूत्र.18/ 51)***

क्षमा सहिष्णुता। धृतिः मनसोऽचाञ्चल्यम्। क्षमादयश्च श्लेष्मणः प्रभावात् क्रियन्ते; एवमन्यत्रापि ज्ञेयम्।। *(चरक.सूत्र.****18/ 51,*** *चक्रपाणि)*

महर्षि चरक ने परम ब्रह्म की प्राप्ति के उपायों में शान्ति को एक श्रेष्ठ तत्त्व के रूप में उल्लिखित किया है। वे शान्ति को मोक्ष के पर्याय के रूप में भी स्वीकृत करते हैं क्योंकि पारमार्थिक शान्ति तभी प्राप्त होती है जब मोक्ष की प्राप्ति हो, यथा—

विपापं विरजः शान्तं परमक्षरमव्ययम्।
अमृतं ब्रह्म निर्वाणं पर्यायैः शान्तिरुच्यते।। ***(च.शा.5/23)***

अर्थात् विपाप (पापरहित) विरजः (रजोदोषरहित), शान्त, पर, अक्षर, अव्यय, अमृत, ब्रह्म एवं निर्वाण इन पर्यायों के द्वारा शान्ति को कहा जाता है अर्थात् ये शान्ति के पर्याय हैं।

यहाँ आचार्य ने शान्ति को मोक्ष के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया है यह आगे के सूत्र से स्पष्ट होता है, यथा—

एतत्तत् सौम्य! विज्ञानं यज्ज्ञात्वा मुक्तसंशयाः।
मुनयः प्रशमं जग्मुर्वीतमोहरजःस्पृहाः।। *(च.शा.5/24)*

हे सौम्य! यह (पुरुषविचय नामक) वह विज्ञान है, जिसे जानकर संशय से मुक्त तथा जो मोह और रजोदोष तथा स्पृहाओं (सभी प्रकार की इच्छाओं) से रहित हो गए हैं ऐसे मुनिगण प्रशम (मोक्ष, शान्ति) को प्राप्त हो गए।

इसकी व्याख्या में चक्रपाणि ने विपाप इत्यादि को मोक्ष के पर्याय के रूप में स्वीकृत किया है, अतः यहाँ परम शान्ति का पारमार्थिक स्वरूप मोक्ष ही है, यथा—

विपापमित्यादिना मोक्षस्वरूपप्रकाशकान् पर्यायानाह। यज्ज्ञात्वेति ज्ञानं प्राप्येत्यर्थः; किंवा, स्वप्रकाशकत्वाज्ज्ञानस्य ज्ञानमपि ज्ञेयं भवतीति बोद्धव्यम्।। *(च.शा.5/23-24)*

यज्ज्ञात्वा का तात्पर्य है जिसे जानकर अर्थात् ज्ञान को प्राप्त करके।इसका तात्पर्य यह है कि पारमार्थिक ज्ञान प्राप्त करने के बाद ऋषि मुनि या महर्षि मोक्ष को प्राप्त करते हैं। यह ज्ञान प्रकाशक होता है, अतः जो सत्या बुद्धि होती है वह इस ज्ञान के माध्यम से प्राप्त होती है। उत्पत्ति का कारण और निवृत्ति का मार्ग इसका ज्ञान होना शुद्ध सत्त्व की प्राप्ति का सङ्केत है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्राथमिक रूप से सत्त्व गुण की अभिवृद्धि करना परमावश्यक है, इसी प्रक्रिया के परिणामस्वरूप स्वतः ही शान्ति की प्राप्ति होती है, यह प्राथमिक शान्ति है जो मोक्ष की ओर ले जाती है और जब मोक्ष की प्राप्ति होती है तो वह पारमार्थिक शान्ति या प्रशम कहलाता है। महर्षि चरक कहते हैं कि मनोदोषयुक्त व्यक्ति के लिए अपुनर्भव सम्भव नहीं है, उन्होंने इस विषय को निषेधात्मक वाक्य में अभिव्यक्त किया है, यथा—

न चानतिवृत्तसत्त्वदोषाणामदोषैरपुनर्भवो धर्मद्वारेषूपदिश्यते।। *(च.सू.11/28)*

अर्थात् जिनके सत्त्व के दोषों का अर्थात् मन के दोषों का अतिक्रमण नहीं हुआ है (मन के दोष दूर नहीं हुए हैं) ऐसे व्यक्तियों के लिए दोषरहित महर्षियों के द्वारा धर्मद्वारों में अर्थात् धर्मशास्त्रों में अपुनर्भव का (मोक्ष का) उपदेश नहीं किया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि पारमार्थिक रूप से शान्ति या मोक्ष प्राप्त करने के लिए राजसिक और तामसिक भावों का अतिक्रमण (उल्लङ्घन) करना परमावश्यक है

धर्मद्वारों (धर्मशास्त्रों) में भी प्राथमिक रूप से भय, लोभ, मोह, काम, ईर्ष्या, द्वेष आदि के त्याग करने का ही निर्देश है उसी के बाद परम शान्ति की ओर बढा जा सकता है, यथा—

धर्मद्वारावहितैश्च व्यपगतभयरागद्वेषलोभमोहमानैर्ब्रह्मपरैराप्तैः कर्मविद्भिरनुपहतसत्त्व-बुद्धिप्रचारैः पूर्वैः पूर्वतरैर्महर्षिभिर्दिव्यचक्षुभिर्दृष्ट्वोपदिष्टः पुनर्भव इति व्यवस्येदेवम्।। *(चरक सूत्र **11/29**)*

यह स्थिर शान्ति है जो कि सब के द्वारा प्राप्त किया जाना सम्भव नहीं है लेकिन एक क्षण के लिये भी यदि शान्ति की प्राप्ति होती है तो वह सुखद ही है। अमरकोशकार ने शान्ति के निम्न पर्याय कहे हैं यथा—

1. शमथस्तु शमः शान्ति *(अमरकोश)***।**

यह पद शमु उपशमे धातु से बना है।

रामाश्रमी टीका में व्याख्या करते हुए कहा गया है कि "त्रीणि कामक्रोधाद्यभावस्य"। इसका तात्पर्य है कि यहाँ प्रयुक्त किया गया शम या शान्ति पूर्ण रूपेण मानसिक शान्ति के संदर्भ में प्रयुक्त है।

2. "दान्तिस्तु दमथो दमः" से इन्द्रियों को वश में करने के पद निर्दिष्ट किए गये हैं, जिनकी व्याख्या करते हुए रामाश्रमी टीका में कहा गया है कि "तपःक्लेशसहनस्य"।

इससे यह संकेतित होता है कि मानसिक शान्ति तभी सम्भव है जब इन्द्रियों का दमन अर्थात् नियन्त्रण पूर्णरूपेण कर लिया जाए।

उन्मादहेतुर्भयहर्षपूर्वो मनोऽभिघातो विषमाश्च चेष्टाः।। *(चरक चिकित्सा **9/4**)*

इसकी व्याख्या करते हुए चक्रपाणि क्रोध इत्यादि को ही मन का अभिघात करने वाला मानते हैं, यथा—

भयहर्षावुपलक्षणौ, तेन क्रोधादयोऽपि मनोभिघातका अत्र ज्ञेयाः।
क्रोधादिना प्रत्याहते मनसि भयहर्षपूर्वक एवोन्मादो भवति।। *(चक्रपाणि)*

क्रोध आदि से मन की शान्ति विनाश होती है यह स्पष्ट निर्देश पहले कर दिया गया है

आचार्य चरक ने मोक्षप्राप्ति की इच्छा वाले व्यक्ति के लिए कुछ करने योग्य कर्मों का उल्लेख किया है जिनसे काम-क्रोध इत्यादि पर नियन्त्रण होता है तथा मानसिक शान्ति की प्राप्ति होती है और इन सब से अन्त में मोक्षप्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है, आचार्य जिन उपायों को बताते हैं उनमें कुछ उपाय ये भी हैं, यथा—

ध्यानहेतोः कायनिबन्धनं, ...शोकदैन्यमानोद्वेगमदलोभरागेर्ष्याभयक्रोधादिभिर-सञ्चलनम्, अहङ्कारादिषूपसर्गसञ्ज्ञा,....। *(चरकसंहिता शारीरस्थान **5/12**)*

यहाँ उपसर्गसंज्ञा का तात्पर्य है "**अनर्थहेतुत्वभावना**"। इसलिए जब तक स्वयं की एवं अन्य किसी भी व्यक्ति के अनर्थ की भावना को मन से निकाला नहीं जाता तब तक शान्ति की प्राप्ति असम्भव है। विभिन्न सात्त्विक प्रक्रियाओं से जिस शान्ति की प्राप्ति होती है वही ज्ञानमूला शान्ति है और वह स्थायी भी है।

सदर्भ-ग्रन्थ-

1. *चरकसंहिता प्रथम खण्ड*- प्रोफेसर वैद्य बनवारी लाल गौड़कृत एषणा टीकासहित
2. *चरकसंहिता द्वितीय खण्ड*- प्रोफेसर वैद्य बनवारी लाल गौड़कृत एषणा टीकासहित
3. *चरकसंहिता तृतीय खण्ड*- प्रोफेसर वैद्य बनवारी लाल गौड़कृत एषणा टीकासहित
4. *अमरकोश* रामाश्रमी व्याख्यासहित
5. *संस्कृतहिंदीकोश*- आप्टे

1. बी.ए.एम.एस. (आयुर्वेदाचार्य), एम.डी. आयुर्वेद (आयुर्वेद-वाचस्पति),
एसोसियेट प्रोफेसर स्वस्थवृत्त एवं योग विभाग
एम. जे. एफ. आयुर्वेद महाविद्यालय, हाड़ोता, चोमू, जयपुर (राजस्थान)
2. भिषगाचार्य, आयुर्वेद-बृहस्पति (एम.डी. आयुर्वेद), एम.ए. (संस्कृत),
डिप्लोमा इन जर्मन, पीएच.डी. (आयु.), डी.लिट्. (मानद)
पूर्व कुलपति,
डॉ. एस. राधाकृष्णन् राजस्थान आयुर्वेद विश्वविद्यालय, जोधपुर
पत्राचार हेतु पता:
80, चम्बल मार्ग, सेन कॉलोनी
प्रेमनगर, झोटवाड़ा, जयपुर – 302012
दूरभाष : 9829844430

वाल्मीकि रामायण में चिकित्सा विज्ञान

(मन्त्र चिकित्सा, स्पर्श चिकित्सा एवं संगीत चिकित्सा के विशेष संदर्भ में)

डॉ. कपिलगौतम

प्रबन्धसार

विश्व की सभी प्राचीन सभ्यताओं ने अपनी-अपनी चिकित्सा प्रणालियाँ विकसित कीं, लेकिन प्राचीन भारतीय चिकित्सा पद्धति को अपने विचारों और उपचारात्मक उपायों दोनों में सबसे व्यवस्थित और सबसे समग्र प्रणाली माना जाता है। प्राचीन भारत के पास उन्नत चिकित्सा विज्ञान था। प्राचीन भारत में चयापचय, संचार प्रणाली, आनुवंशिकी और तंत्रिका तन्त्र के साथ-साथ आनुवंशिकता द्वारा विशिष्ट विशेषताओं के संचरण के बारे में जानते थे। वैदिक चिकित्सकों ने जहरीली गैस के प्रभाव का प्रतिकार करने के लिए चिकित्सीय तरीकों को समझा और शल्य चिकित्सा एवं मस्तिष्क की शल्य क्रिया और निश्चेतना (एनेस्थेटिक्स) का प्रयोग किया। वेदों के प्रसिद्ध भाष्यकार सायनाचार्य ने त्रिधातुओं की व्याख्या वात, पित्त और श्लेष्मा के रूप में की। अथर्ववेद के 10वें खण्ड में पुरुष 38 की रचना पर एक विशेष स्तोत्र है जिसमें कंकाल के विभिन्न भागों का वर्णन किया गया है।शतपथ ब्राह्मण के अनुसार मनुष्य में हड्डियों की संख्या 360 है। इसी प्रकार वेदों में एक संदर्भ देखा जा सकता है कि शरीर पंच महा भूतों (पांच मूल तत्वों) से बना है। चिकित्सा सिद्धान्तों के लिए, अधिकांश इतिहासकार ईसाई युग की शुरुआती शताब्दियों के दो संस्कृत चिकित्सा ग्रंथों, चरक संहिता (चरक का संग्रह) और सुश्रुत संहिता (सुश्रुत का संग्रह) का उल्लेख करते हैं। सातवीं शताब्दी ईस्वी का वाग्भट्ट का अष्टांगहृदय चिकित्सा का एक अन्य महत्वपूर्ण ग्रंथ है।] महाकाव्यों, जातक , यात्रा वृत्तांतों और ईसाई युग की शुरुआती शताब्दियों के अन्य साहित्य में भी चिकित्सकीय ज्ञान के संदर्भ मिलते हैं।

रामायण काल में शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य पर पर्याप्त ध्यान दियो जाता था। सुयोग्य वैद्यों की प्रचुरता, रोगोत्पत्ति के कारण, लक्षण, विभिन्न विधियों से चिकित्सा का वर्णन रामायण में यथोचित स्थानों पर उलब्ध होता है। सेना के साथ वैद्यों की अनिवार्यता, प्राकृतिक, मन्त्र, संगीत, स्पर्श एवं औषधीय चिकित्सा के उदाहरण बहुत्र द्रष्टव्य हैं। मृत शरीर को भी पुनर्जीवित करना तथा शव संरक्षण की वैज्ञानिक विधियों से रामायण कालीन वैद्य न केवल परिचित थे अपितु उनका व्यावहारिक जीवन में यथेष्ट प्रयोग करते थे। चिकित्सा की मुख्य विधियों में मन्त्र, स्पर्श संगीत इत्यादि चिकित्सा की विधियों का भी रामायणकाल में

प्रयोग किया जाता था। प्रस्तुत शोधपत्र में वाल्मीकीरामायण में चिकित्सा की विधियों का विश्लेषण विशेष रूप से मन्त्र चिकित्सा, संगीत चिकित्सा एवं स्पर्श चिकित्सा के सन्दर्भ में किया जा रहा है।

मूल शब्द –चिकित्सा, मन्त्र, स्पर्श, संगीत, शल्य, शव, औषधि, रोग, निदान।

भूमिका

भारत में चिकित्सा और चिकित्सकों के बारे में सबसे पुरानी विश्वसनीय जानकारी 1500 ईसा पूर्व से उपलब्ध है। [1 , 3] हमें वैदिक काल (1500-600 ईसा पूर्व) की चिकित्सा पद्धतियों के बारे में जानकारी चार वेदों के साथ-साथ उनके ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों से मिलती है। [1 , 3]

वाल्मीकी रामायण लौकिक संस्कृत साहित्य का आदि महाकाव्य है। इसके रचयिता महर्षि वाल्मीकि सहृदय काव्य प्रणेता तो थे ही, आध्यात्म विज्ञान में भी उनका महत् चिन्तन और सुचारू गति थी। उनकी यह कृति महाकाव्य के लक्षणों के निकष पर खरी एवं साहित्य के सभी आयामों से भी सौन्दर्योपेत है। कथावस्तु की चारुता, पात्रों के चरित्र-चित्रण का सौन्दर्य, भाषा की प्रवाहमयिता, शैली की प्रवाह प्रांजलता, भावों की मर्मस्पर्शिता, शब्दार्थ का सुरम्य समन्वय, प्रेय और श्रेय का सहज सामंजस्य धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष इन पुरुषार्थ चतुष्टय की सन्निधि, मानवीय जीवन मूल्यों का सुस्थापन, मानव के प्रति महाकवि का रचनात्मक सोच, पंच महाभूतों की पावनता एवं संयोजना के प्रति मनसा-वाचा-कर्मणा संयोजनात्मक रचना संरक्षण का दृष्टिकोण, वनोपवन, नदी, पर्वत, तीर्थ, नगर, गाँव, पशु, पक्षी, जीव-जन्तु आदि सभी के प्रति स्नेहिल दृष्टि और उस परमात्मा के इस रचना संसार के कण-कण को पूर्ण, उपादेय, उपयोगी और महत्त्वपूर्ण मानने की कवि की आध्यात्मिक दृष्टि, ज्ञान और विज्ञान दोनों से उपेत है। महर्षि वाल्मीकि का काव्य रचना संसार ज्ञान समृद्ध तो है ही यह उनके वैज्ञानिक दृष्टिकोण को भी उजागर करता है।

विज्ञान का उत्कर्ष समाजोत्कर्ष के लिए होता है। समाज के अभीष्ट सुख-साधन में विज्ञान की उपादेयता सार्थक होती है। महर्षि वाल्मीकि की काव्य कृति रामायण में उल्लिखित सभी प्रकार के वैज्ञानिक उपकरणों एवं विज्ञान का अभ्युदय लोकहिताय तथा लोक मंगल के लिये ही प्रमुख्तया निरूपित है। विश्वामित्र द्वारा श्रीराम को दिये गये दिव्यास्त्रों का ज्ञान आत्मरक्षार्थ एवं लोक-कल्याण के लिये ही था –

तानि दिव्यानि भद्रं ते ददाम्यस्त्राणि सर्वशः।
दण्डचक्रमहद्दिव्यं तव दास्यामि राघव।।
धर्मचक्रं ततो वीरं कालचक्रं तथैव च।
विष्णुचक्रं तथात्युग्रमैन्द्रं चक्रं तथैव च।। *(वा.रा.1/27/4, 5)*

महाकाव्य रामायण में वर्णित यज्ञादि की सम्पन्नता भी पंचतत्त्वों की पावनता का प्रतीक है जो वैज्ञानिक रृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

मन्त्र चिकित्सा –

तन्त्र-मन्त्र और यन्त्र विज्ञान में समस्त विद्यायें समाहित हैं। संसार में प्राचीन काल में आधि अर्थात् मानसिक रोग व्याधि अर्थात् शारीरिक रोगों के उपचार के विभिन्न उपाय किये जाते रहे हैं, जिनमें मन्त्र चिकित्सा का महत्त्वपूर्ण स्थानहै।

सबसे पिछड़ी जाति से लेकर अत्याधुनिक सभ्य समाज तक मन्त्र चिकित्सा प्राचीन काल से ही प्रचलित है। यथार्थ में मन्त्र चिकित्सा लेना प्राय: नि:शुल्क है। बाकि सभी चिकित्साओं में धन का सर्वाधिक महत्त्व है, किन्तु केवल मन्त्रचिकित्सा ऐसी है जो समाज के सबसे कमजोर वर्ग को भी सर्वाधिक लाभकारी है। मन्त्र चिकित्सा साधनहीन या निर्धन के लिये तो वरदान है, जिसके सहारे वह अपनी आधि—व्याधियों का निवारण करता है। विभिन्न रोगों में प्रयुक्त मन्त्र चिकित्सा का संक्षिप्त परिचय अधोलिखित है:—

1. सिर दर्द तथा आधाशीशी में —मन्त्र प्रयोग होता है।
2. नेत्ररोग में — चाक्षुषी विद्या का पाठ[1]
3. अल्पनिद्रा में — निद्रावहन मन्त्र[2]
4. अतिनिद्रा में — निद्रा स्तम्भन मन्त्र[3]
5. पाचन शक्ति बढ़ाने हेतु — परिपाकमन्त्र[4]
6. पीलिया का मन्त्र —ऊँ नमो.....।[5]
7. दांतदर्द निवारण मन्त्र — ऊँ नमो आदेश...![6]
8. भूत—प्रेत बाधा का मन्त्र—ऊँ नमो भगवते....![7]
9. विष चिकित्सा — बिच्छु, सांप के विष की सर्वत्र चिकित्सा।
10. वात रोग— गठिया, सन्धिवात की मन्त्र चिकित्सा।
11. नजर लगने पर— मन्त्रों द्वारा झाड़ना, ताबीज पहनाना।
12. भयभीत होने पर — मन्त्रों द्वारा झाड़ना, ताबीज पहनाना।
13. बुद्धि तीव्र करने हेतु — मन्त्रों द्वारा ताबीज पहनाना।
14. सर्व विजय हेतु — आदित्य हृदय स्तोत्र।
15. सर्व व्याधि नाशक — महामृत्युञ्जयय मन्त्र।
16. जड़ीबूटी का प्रभाव बढ़ाने हेतु मन्त्र प्रयोग।

मन्त्र चिकित्सा के सम्बन्ध में अथर्ववेद में अनेक प्रसंग हैं। विशिष्ट मन्त्रों के विशिष्ट ढंग से उच्चारण से वायुमण्डल में विशेषप्रकार के कम्पन्न उत्पन्न होते हैं, जिनका विशेष परिणाम होता है। यह मन्त्र विज्ञान का आधार है। इसकी अनुभूति वेदमन्त्रों के श्रवण या मन्दिर के गुम्बज के नीचे मन्त्र पाठ के समय अनुभव में आती है।[8]

राम के वनगमन के समय कौशल्या ने विशल्यकरणी नामक औषधि को राम रक्षा के लिये मन्त्र पढ़ते हुये उनके हाथ परबाँध दिया फिर उसका प्रभाव बढ़ाने के लिये मन्त्र का जाप किया:—

औषधीं च सुसिद्धार्थां विशल्यकारिणीं शुभाम्।
चकार रक्षां कौसल्या मन्त्रैरभिजजाप च।।
उवाचापि प्रहृष्टेव सा दु:खवशवर्तिनी।
वाङ्मात्रेण न भावेन वाचा संसज्जमानया।।[9]

इससे स्पष्ट है कि मन्त्र चिकित्सा के सम्बन्ध में रामायण का काल सुविज्ञ था।

स्पर्श चिकित्सा

स्पर्श चिकित्सा में चिकित्सक शरीर के अंगों से रोगी का स्पर्श करके चिकित्सा करता है। रत्न चिकित्सा भी स्पर्शचिकित्सा के अन्तर्गत आती है। स्पर्श चिकित्सा के मुख्य भेद इस प्रकार हैं:—

1. हस्त स्पर्श, 2. ध्वनि स्पर्श, 3. रत्न/धातु स्पर्श, 4. वर्ण (रंग) स्पर्श, 5. प्रकाश स्पर्श

हस्त स्पर्श:—इसमें हाथों के स्पर्श से रोगों का शमन किया जाता है तथा रोगी के शरीर तथा मन को उत्साहित एवं नैरूज्य प्रदान किया जाता है। द्रष्टव्य है कि राम-लक्ष्मण ने अपने हाथों के स्पर्श से अहिल्या को व्याधि मुक्त किया था।

राघवौ तु तदा तस्या: पादौ जगृहतुर्मुदा।
स्परन्ती गौतमवच: प्रतिजग्राह सा हि तौ।।[10]

कुब्जत्व रोग से पीड़ित कुशनाभ की कन्यायें ब्रह्मदत्त के हस्तस्पर्श मात्र से कुब्जत्व रोग से मुक्त होकर शोभा सम्पन्न हुईं—

स्पृष्टमात्रे तदा पाणौ विकुब्जा विगतज्वरा:।
युक्तं परमया लक्ष्म्या बभौ कन्याशतं तदा।।[11]

पाणि-स्पर्श से गर्भ धारण भी सम्भव है। ऋषि कश्यप के हस्तस्पर्श से दिति ने गर्भ धारण किया:—

एवमुक्त्वा महातेजा: पाणिना सम्म्मार्ज ताम्।
तामालभ्य तत: स्वस्ति इत्युक्त्वा तपसे ययौ।।[12]

जहाँ उचित अंग स्पर्श होता है वहाँ तो चिकित्सा होती है, किन्तु अनुचित अंग स्पर्श से दोष भी होता है, जिसके कारण बड़ी भारी हानि उठानी पड़ती है। दिति के हाथों का स्पर्श पैरों से होने पर वे अपवित्र हो गयीं, फलस्वरूप उनके गर्भ के टुकड़े-टुकड़े हो गये। अनुचित समय में निद्रा करने से भी दोष होता है:—

इत्युक्त्वा च दितिस्तत्र प्राप्ते मध्यं दिनेश्वरे।
निद्रयापहृता देवी पादौ कृत्वाथ शीर्षतः।।
भिद्यमानस्ततो गर्भो वज्रेण शतपर्वणा।
रूरोद सुस्वरं राम ततो दितिरबुध्यत।।[13]

जब इन्द्र ने हनुमान जी को वज्र मारा उस समय ब्रह्मा जी ने हस्तस्पर्श से ही उनकी चिकित्सा की:—

स्पृष्टमात्रस्ततः सोऽथ सलीलं पद्मजन्मना।
जलसिक्तं यथा सस्यं पुनर्जीवितमाप्तवान्।।[14]

इसी प्रकार दृष्टि स्पर्श से भी रोग दूर किये जाते हैं। ध्वनि उपचार भी होता है। ग्रहजनित विभिन्न व्याधियों में रत्न तथाधातु धारण करने से भी चिकित्सा की जाती है। कई प्रकार के रोगों में वर्णयुक्त प्रकाश से चिकित्सा की पद्धति तो पूर्वकाल से ही प्रचलित है। प्रकाश स्रोतों द्वारा भी शरीर की चिकित्सा की जाती है। इस प्रकार विभिन्न प्रकार के स्पर्शों द्वाराचिकित्सा की जाती थीं।

संगीत चिकित्सा

ॐ ओमित्येकाक्षरमिदम् सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव।।[15]

"ॐ" ब्रह्मनाद के नाम से जाना जाता है, इस ब्रह्मनाद में भूत, भविष्य, वर्तमान सब कुछ समाहित है। यह समस्त चराचर जगत् उसी अविनाशी अक्षर का उपव्याख्यान है। इस प्रणव नाद से ही वाणी तथा स्वरों की निष्पत्ति हुई है। ऋग्वेद के अनुसार यह वाणी चार प्रकार की बताई गई हैं:—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि....![16]

1. परा — आत्मा की वाणी, श्रवणीय नहीं। 2. पश्यन्ती — मन की वाणी, श्रवणीय नहीं। 3. मध्यमा — शरीर के आन्तरिक अंगों में व्याप्त श्रवणीय नहीं। 4. वैखरी — भाषिक अभिव्यक्ति श्रवणीय।

वाणी द्वारा निष्पन्न वर्णों में विभिन्न प्रकार के स्वर भी समाहित हैं। वेद में इन्हीं स्वरों को तीन प्रकार से विभाजित कियागया है:—

उच्चैः उदात्तः, नीचैः अनुदात्तः, समाहारः स्वरितः च इति।

इन्हीं तीन प्रकार के स्वरों का विशिष्ट गति, यति, लय क साथ सूक्ष्म विश्लेषण करने पर संगीत शास्त्र में इनका नामकरण इस प्रकार हुआ:—

सा	षडज	स्वरित
रे	ऋषभ	अनुदात्त
ग	गान्धार	उदात्त
म	मध्यम	स्वरित
प	पंचम	स्वरित
ध	धैवत	अनुदात्त
नि	निषाद	उदात्त

उच्चैर्निषाद—गान्धारौ नीचैर्ऋषभधैवतौ।
शेषास्तु स्वरिता ज्ञेया: षडजयध्यमपञ्चमा:।।

सा, रे, ग, म, प, ध, नि इन सातों स्वरों का विभिन्न क्रमों में विशिष्ट समायोजन करने पर वातावरण में कुछ तरंगें उत्पन्न होती हैं, जिनका प्रभाव सभी चराचर प्राणियों तथा वस्तुओं पर पड़ता है।

स्वरों के शुद्ध तथा विकृत रूपों के विशिष्ट संयोजन से मूलत: रागों की रचना की गई है। इनके उपराग तथा रागिनियों आदि के अनेक प्रकार हैं। महर्षि वाल्मीकि ने भी रामायण महाकाव्य की रचना संगीत के नियमों के अनुरूप की है तथा लव-कुश के द्वारा इस रामायण महाकाव्य का संगीतमय गायन हुआ है।

केवल संगीत ही ऐसा है जो हर्ष, शोक, भय, क्रोध, वीरता, शांति, वीभत्सता, भय आदि प्रत्येक भावुक अवसर पर तत्तद्रस में निमज्जित प्राणी को उसी प्रकार का संगीत, उस रस की अधिक अनुभूति कराता है।

आयुर्वेद के प्रथम प्रयोजन "स्वस्थ्यस्य स्वास्थ्यरक्षणम्" को सिद्ध करने के लिये रामायण में प्रात: काल संगीत श्रवण करके शुभ दिन का आरम्भ करने की परम्परा थी:—

सूता: परमसंस्कारा मागधाश्चोत्तमश्रुता:।
गायका: श्रुतिशीलाश्च निगदन्त: पृथक्पृथक्।।
राजानं स्तुवतां तेषामुदात्ताभिहिताशिषाम्।
प्रासादाभोगविस्तीर्ण: स्तुतिशब्दो ह्यवर्तत।।
ततस्तु स्तुततां तेषां सूतानां पाणिवादका:।
अपदानान्युदाहृत्य पाणिवादान्यवादयन्।।

तेन शब्देन विहगा: प्रतिबुद्धाश्च सस्वनु:।
शाखास्था: पंजरस्थाश्च ये राजकुलगोचरा:।।
वरूहता: पुण्यशब्दाश्च वीणानां चापि नि:स्वना।
आशीर्गेयं च गाथानां पूरयामास वेश्म तत्।।[17]

उत्तम गीत—संगीत के ज्ञाता: लय, ताल, यति, और गति के साथ वीणाओं के मधुर शब्द एवं वेदमन्त्रों से प्रात:कालीन वातावरण को सुरम्य बनाते थे, जिससे सब का तन—मन प्रसन्न रहता था। नृत्य, गीत तथा संगीत में निपुण पुरुष एवं वरांगनाएं वातावरण को स्वस्थ्य बनाने में निरन्तर कृतभूरिपरिश्रम थे:—

सर्वे च तालापचा रा वणिकाश्च स्वलंकृता।।
कक्ष्यां द्वितीयामासाद्य तिष्ठन्तु नृपवेश्मन:।[18]

इस प्रकार से संगीतमय वातावरण से मानसिक चिकित्सा की परम्परा रामायण में दृष्टिगोचर है।

औषधी चिकित्सा

आयुर्विज्ञान के द्वितीय प्रयोजन—"आतुरस्य विकार प्रशमनम्" के अन्तर्गत औषधि चिकित्सा का विधान है। ऐलोपैथिक दवाओं के कुछ न कुछ दुष्प्रभाव (साइड इफैक्ट्स) अवश्य रोगी के शरीर तथा मन पर होते हैं। इन दवाओं के प्रभाव से कुछ समय के लिए रोग की पीड़ा दब जाती है जिसको तात्कालिक लाभ के रूप में जाना जाता है, किन्तु उन ऐलोपैथिक दवाओं के दुष्प्रभाव से उसका शरीर तथा मन कई प्रकार के दूषणों से प्रभावित हो जाता है। जिसके कारण वह अन्य कईप्रकार के रोगों से पीड़ित हो जाता है। ये दुष्परिणाम कभी-कभी तत्काल अथवा कुछ समय बाद अनुभव किये जा सकतेहैं और रोग का समूल नाश तो कभी होता ही नहीं है।

आयुर्वेदीय औषधियों से उपचार में विलम्ब तो होता है किन्तु इनका न तो कोई दुष्प्रभाव ही होता है और न रोग के पुन:आक्रमण की सम्भावना रहती है और ज्यादातर रोगों का समूल उपचार किया जाता है।

रामायण काल में औषधियों के प्रयोग से चिकित्सा के अनेक अवसर आये हैं। लंका में युद्ध के समय लक्ष्मण की मूर्च्छा केउपचार हेतु हिमालय से औषधियाँ मँगाई गयीं जिनसे "नस्य" द्वारा राम—लक्ष्मण तथा वानरों की चिकित्सा की गयी—

मृतसंजीवनीं चैव विशल्यकरिणीमपि।
सुवर्णकरिणीं चैव संधानीं च महौषधीम्।।[19]

इन औषधियों का प्रभाव इस प्रकार से है—

1. मृत संजीवनी — मूर्च्छा दूर कर चेतना प्रदान करने वाली।
2. विशल्यकरिणी — शरीर में धँसे हुये बाण आदि को निकालकर घाव भरने और पीड़ा दूर करने वाली।

3. सुवर्णकरिणी — शरीर में पहले जैसी रंगत लाने वाली।
4. सन्धानी — टूटी हुई अस्थियों को जोड़ने वाली।

लक्ष्मण की मूर्च्छा दूर करने हेतु पुन: इनका प्रयोग किया गया तथा नासिका द्वारा इन औषधियों से उपचार किया। नस्यविधि से प्रदत्त इन औषधियों के प्रभाव से तत्क्षण ही लक्ष्मण स्वस्थ हो गये—

ततः संक्षोदयित्वा तामोषधीं वानरोत्तमः।
लक्ष्मणस्य ददौ नस्यः सुषेण सुमहाद्युतिः।।
सशल्यः स समाघ्राय लक्ष्मणः परवीरहा।
विशल्यो विरूजः शीघ्रमुदतिष्ठन्महीतलात्।।[20]

राम-लक्ष्मण सहित वानर सेना के बहुत से वीरों के शल्य होने तथा मूर्च्छा के समय औषधियों की गन्ध से ही सबका उपचार किया गया।

तावप्युभौ मानुषराजपुत्रौ तं गन्धमाघ्राय महौषधीनाम्।
बभूवुस्तत्र तथा विशल्यावुत्तस्थुरन्ये च हरिप्रवीराः।।
सर्वे विशल्या विरूजाः क्षणेन हरिप्रवीराश्च हताश्च ये स्युः।
गन्धेन तासां प्रवरौषधीनां सुप्ता निशान्तेष्विव सम्प्रबुद्धाः।।[21]

उस समय वानरों को भी आयुर्वेदिक औषधियों के गुण, प्रभाव तथा प्राप्ति स्थान आदि के सम्बन्ध में पर्याप्त ज्ञान था—

हरयस्तु विजानन्ति पार्वती ते महौषधी।
संजीवकरिणीं दिव्यां विशल्यां देवनिर्मिताम्।।[22]

मूर्च्छा दूर करने हेतु सुगन्धित जल के प्रयोग का उल्लेख इस प्रकार मिलता है—

आसिञ्चन् सलिलैश्चैनं पद्मोत्पलसुगन्धिभिः।
प्रदहन्तमसंहार्यं सहसाग्निमिवोत्थितम्।।[23]

वृश्चिक, सर्प आदि के विषों के प्रभाव का शमन करने हेतु महेन्द्र पर्वत पर सर्प विषनाशक औषधियों का इस प्रकार वर्णन किया गया है:—

यानि त्वौषधजालानि तस्मिंजातानि पर्वते।
विषघ्नान्यपि नागानां न शेकुः शमितुं विषम्।।[24]

अस्त्र-शस्त्रों के प्रहार से रक्षा हेतु युद्ध से पूर्व शरीर पर औषधीय लेप का वर्णन भी मिलता है:—

सर्वौषधीभिर्गन्धैश्च समालभ्य महाबलाः।[25]

मधुपान के नशे से व्याप्त नशेलची का नशा उतारने हेतु मेहन (मूत्रत्याग) कराने का उल्लेख है:—

स प्रविष्टो मधुवनं ददर्श हरियूथपान्।
विमदानुद्धातान् सर्वान् मेहमानान् मधूदकम्।।[26]

शल्य चिकित्सा –

वर्तमान में लेजर अथवा सामान्य पद्धति से गर्भस्थ शिशु की शल्य क्रिया की जाती है, किन्तु रामायण में अत्यन्त सहजविधि से जच्चा-बच्चा को किसी भी प्रकार की हानि पहुँचाये बिना गर्भस्थ शिशु की शल्क्य क्रिया का उल्लेख सीता ने इस प्रकार किया है—

तस्मिन्ननागच्छति लोकनाथे गर्भस्थजन्तोरिव शल्यकृन्तः।[27]

अंग प्रत्यारोपण

वर्तमान में "प्लास्टिक् सर्जरी" के नाम से विख्यात शल्य चिकित्सा में "प्लास्टिक" का प्रयोग कहीं भी नहीं किया जाता। इस चिकित्सा का शुद्ध नाम है "अंग प्रत्यारोपण।" रामायण में अंग प्रत्यारोपण इस प्रकार से किया गया है जो वर्तमान में भीदुर्लभ है। मेष के अण्डकोषों को निकालकर इन्द्र के शरीर में जोड़ना कोई साधारण शल्य क्रिया नहीं है।

अग्नेस्तु वचनं श्रुत्वा पितृदेवाः समागताः।
उत्पाट्य मेषवृषणौ सहस्त्राक्षे न्यवेशयन्।।[28]

शव संरक्षण

पंचभौतिकी शरीर से जब जीवांश निकल जाता है तो उस शरीर को शव कहते हैं। शव के सभी अंगों में व्याप्त रसों, धातु, मज्जा, आदि में विकृति उत्पन्न होने लगती है, सभी तन्त्र कार्य करना बन्द कर देते हैं और शरीर फूलकर कठोर होने लगताहै, अस्थि-संन्धियों की संचालन प्रक्रिया कठिन हो जाती है, कई प्रकार के बाहरी तथा शरीरजन्य कीटाणुओं के आक्रमणसे कुछ समय बाद दुर्गन्ध आने लगती है। उस निर्जीव शरीर का अन्तिम संस्कार किया जाता है, जो लोक मान्यतानुसारअग्निदाह आदि के नाम से जाना जाता है। विशेष परिस्थितियों में दाहसंस्कार में विलम्ब होने के कारण शरीर को विकृति से सुरक्षित यथा स्थिति में बनाए रखनेकी आवश्यकता होती है, ऐसी स्थिति में शव को संरक्षित रखना बहुत कठिन कार्य है।

शव संरक्षण का कार्य बर्फ से भी किया जाता है, शव को सुरक्षित रखने के लिए उस (ममी) पर औषधीय रसायनों तथागुग्गुल, चन्दन एवं सुगन्धित पदार्थ आदि का लेप किया जाता है। शव को एक विशेष शीतगृह में रखकर भी संरक्षितकिया जा सकता है, उचित ताप पर भी शवसंरक्षण की विधि आयुर्वेदिक ग्रन्थों में वर्णित है।

राम-लक्ष्मण के अनगमन के पश्चात अयोध्या के राजा दशरथ की मृत्यु हो गई। उनके शव को मुखाग्नि देने को उत्तराधिकारी भरत और शत्रुघ्न आने की प्रतीक्षा में दशरथ के शव को दो सप्ताह तक सुरक्षित रखना अनिवार्य था। शवसंरक्षण की विधि अयोध्या के वैद्यों मंत्रियों को ज्ञात थी उन्होंने औषधीय पदार्थयुक्त तेल से भरे हुये एक बड़े पात्र में राजादशरथ का शव संरक्षित किया—

तैलद्रोण्यां तदामात्या: संवश्य जगतीपतिम्।
राज्ञ: सर्वाण्यथादिष्टाश्चक्रु: कर्माण्यनन्तरम्।।[29]

दशरथ की मृत्यु के तीन दिन बाद अयोध्या के दूतों ने भरत को गुरु वसिष्ठ का सन्देश सुनाया और भरत सेना के साथ-आठवें दिन अयोध्या पहुँचे इस प्रकार एकादश दिन तक राजा दशरथ का शव सुरक्षित रखा था—

तां पुरीं पुरुषव्याघ्र: सप्तरात्रौषित: पथि।।[30]

शव संस्कार हेतु चन्दन, अगर, गुग्गुल, सर, पद्मक, देवदारू तथा सुगन्धित पदार्थों का प्रयोग भी किया—

चन्द्रनागुरुनिर्यासान् सरलं पद्मकं तथा।
देवदारूणि चाहृत्या क्षेपयन्ति तथापरे।।
गन्धानुच्चावचांश्चान्यांस्तत्र.....।।[31]

राजा निमि के शव को सुरक्षित करने हेतु भी इस विधि का उल्लेख है:—

तं च देहं नरेन्द्रस्य रक्षन्ति स्म द्विजोत्तमा:।
गन्धैर्माल्यैश्च वस्त्रैश्च पौरभृत्यसमन्विता:।।[32]

ब्राह्मण बालक को पुनर्जीवित करने का संकल्प राम का था, क्योंकि रामराज्य में वृद्धों के हाथों बालकों का अन्तिम संस्कार नहीं किया जाता था। बालक के शरीर में पुन: प्राणों के आने की प्रतीक्षा हेतु उसके शव का संरक्षण आवश्यक था जिसका वर्णन रामायण में इस प्रकार है:—

तत: कतिपयाह:सु वृद्धो जानपदो द्विज:।
मृतं बालमुपादाय राजद्वारमुपागमत्।।[33]

× × ×

यस्मिन् मुहूर्ते काकुत्स्थ शूद्रोयं विनिपातिक:।
तस्मिन् मुहूर्ते बालोसौ जीवेन समयुज्यत।।[34]

बालक के शव को संरक्षित करने हेतु सुगन्धित पदार्थों से युक्त तेल से भरे हुये विशेष काष्ठ के पात्र में रखा गया—

बालस्य च शरीरं तत् तैलद्रोण्यां निधापय।।
गन्धैश्च परमोदारैस्तैलैश्च सुसुगन्धिनाभि:।
यथा न क्षीयते बालस्तथा सौम्य विधीयताम्।।
यथा शरीरो बालस्य गुप्त: सन् क्लिष्टकर्मण:।
विपत्ति: परिभेदो वा न भवेच्च तथा कुरू।।[35]

वर्तमान में शवसंरक्षण में कतिपय रसायनों का लेप किया जाता है, जिनके कई दुष्प्रभाव हैं, किन्तु वाल्मीकिरामायण में शव संरक्षण हेतु जिन पदार्थों का प्रयोग किया जाता था उनके दुष्परिणाम भी नहीं होते थे और शव भी संरक्षित रहताथा।

उपसंहार

रामायण काल में शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य पर पर्याप्त ध्यान दियो जाता था। सुयोग्य वैद्यों की प्रचुरता, रोगोत्पत्ति के कारण, लक्षण, विभिन्न विधियों से चिकित्सा का वर्णन रामायण में यथोचित स्थानों पर उलब्ध होता है। सेना के साथ वैद्यों की अनिवार्यता, प्राकृतिक, मन्त्र, संगीत, स्पर्श एवं औषधीय चिकित्सा के उदाहरण बहुत द्रष्टव्य हैं। मृत शरीर को भी पुनर्जीवित करना तथा शव संरक्षण की वैज्ञानिक विधियों से रामायण कालीन वैद्य न केवल परिचित थे अपितु उनका व्यावहारिक जीवन में यथेष्ट प्रयोग करते थे। इस सबसे स्पष्ट है कि रामायण में आयुर्विज्ञान सम्बन्धी क्रियाकलापों का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया जाता था।

सन्दर्भ

1. *नित्यकर्मपूजाप्रकाश*, पृ.29
2. *आरोग्य निधि*, भाग 2, पृष्ठ 41
3. *आरोग्य निधि*, 2, पृष्ठ 42
4. *आरोग्य निधि*, 2-66
5. *आरोग्य निधि*, 1-56

6. *आरोग्य निधि*, 1-40
7. *आरोग्य निधि*, 1-193
8. *भारत में विज्ञान की उज्जवल परम्परा*
9. *वाल्मीकीयरामायण*, 2/25/38,39
10. *वाल्मीकीयरामायण*, 1/49/17
11. *वाल्मीकीयरामायण*, 1/33/23
12. *वाल्मीकीयरामायण*, 1/46/7
13. *वाल्मीकीयरामायण*, 1/46/16-19
14. *वाल्मीकीयरामायण*, 7/36/4
15. *माण्डूक्योपनिषद्*
16. *ऋग्वेद*, 1-64-45
17. *वाल्मीकीयरामायण*, 65/2-6
18. *वाल्मीकीयरामायण*, 2/3/17, 18
19. *वाल्मीकीयरामायण*, 6/74/33
20. *वाल्मीकीयरामायण*, 6/101/44,45
21. *वाल्मीकीयरामायण*, 6/74/73,74
22. *वाल्मीकीयरामायण*, 6/50/30
23. *वाल्मीकीयरामायण*, 6/83/12
24. *वाल्मीकीयरामायण*, 5/1/21
25. *वाल्मीकीयरामायण*, 6/69/18
26. *वाल्मीकीयरामायण*, 5/64/4
27. *वाल्मीकीयरामायण*, 5/28/6
28. *वाल्मीकीयरामायण*, 1/49/8
29. *वाल्मीकीयरामायण*, 2/66/14
30. *वाल्मीकीयरामायण*, 2/71/18
31. *वाल्मीकीयरामायण*, 2/76/16

32. *वाल्मीकीयरामायण,* 7/57/11

33. *वाल्मीकीयरामायण,* 7/73/2

34. *वाल्मीकीयरामायण,* 7/76/15

35. *वाल्मीकीयरामायण,* 7/75/2-4

सन्दर्भग्रन्थसूची :-

- मिश्र, जयकृष्ण, *वाल्मीकिरामायण,* भुवनवाणीट्रस्ट, लखनऊ,1995.
- *श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण,* गीताप्रेसगोरखपुर 2013
- सरस्वती, अखण्डानन्द, *श्रीमद्वाल्मिकीयरामायणामृत,* सत्साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, 2014
- मिश्र, कौशलकिशोर, *वाल्मीकि रामायण* में राम-राज्य, राहुल पब्लिशिंग हाउस, मेरठ 2021
- सिंह, वृजेश, *वाल्मीकीयरामायण* में मूल्यचेतना, नागपब्लिशर्स, दिल्ली,2001
- तिवारी, विष्णुनारायण, *वाल्मीकीयरामायण की वैज्ञानिक उपादेयता,* ईस्टर्न बुकलिंकर्स नईदिल्ली 2012
- सिंहमहेन्द्रप्रताप, *वाल्मीकीयरामायण की पर्यावरण चेतना,* वाणीप्रकाशन, दिल्ली, 2016
- शर्मा, सुधीरकुमार, *रामायणकालीन पर्यावरण चेतना की वैज्ञानिकता,* हँसा प्रकाशन, जयपुर, 2012
- आप्टे, वामनशिवराम, *संस्कृतहिन्दीकोश,* परिमल प्रकाशन, दिल्ली,2023.
- R Krishan, *Valmiki Ramayan- A Scientist View*, Giri Trading Agency Chennai 2016.
- Satpathi, Harekrishan, *Valmiki Ramayan* (With Selected Commentaries), Rashtriya Sanskrit Vidyapeeth, Tirupati 2010.
- नागेश्वर, अक्षय हरीश, *प्राचीन आयुर्वेदिक गुण चिकित्सा पद्धति,* चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, 2019.
- ज्योति, सिंह, *वैदिक युग में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी (एक ऐतिहासिक अध्ययन):* स्वाति प्रकाशन, दिल्ली, 2025.
- वर्मा, प्रीति, *प्राचीन भारत में विज्ञान एवं तकनीकी,* कला प्रकाशन, दिल्ली, 2010.
- मुले, गुणानाथ, *प्राचीन भारत में विज्ञान,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2017
- Satyavati CV. *The Role of Ayurveda as Contemporary Medical Science and Therapeutic System*. IIC Quarterly. 1991.
- Ayyar PR. *The Eternal Glory of Ayurveda*. Curr Sci. 1946; 15 (7): 177.

- Sharma PV, (ed), *The CarakaSamhita – Sutrasthanam* (I) 1: 41. Text with English Translation. varanasi: ChaukhambaOrientalia, 2014.
- Filliozat J. *The Classical Doctrine of Indian Medicine: Its Origin and its Greek Parallels*. Delhi: MunshiramManoharlal Publishers, 1964.
- Zysk KG. *Mythology and Brahmanization of Indian Medicine*: Transforming Heterodoxy into Orthodoxy. In: Josephson F, (ed). Categorization and Interpretation: Indological and Comparative Studies. Goeteborg: Department of Comparative Philosophy, Goeteborg University, 1999.
- Zysk KG. *Asceticism and Healing in Ancient India: Medicine in the Buddhist Monastery*. Delhi: MotilalBanarsidass, 1998.
- Figueira DM. *Aryans, Jews and Brahmins: Theorizing Authority through Myth of Identity*. Albany: State University of New York Press, 2002.
- Larson GJ. *Ayurveda and the Hindu Philosophical Systems.* Philos East West. 1987..

सहायक आचार्य

संस्कृत विभाग वर्धमानमहावीर खुला विश्वविद्यालय कोटा, राजस्थान

Email: kgautam@vmou.ac.in kapilg2008jnu@gmail.com

चलदूरभाषसं० 9672199658

वेदों में ब्रह्म और यज्ञ का स्वरूप

प्रो. ज्योत्स्ना वशिष्ठ

ब्रह्म और यज्ञ—भारतीय विज्ञान इन्हीं दो भागों में विभक्त है। जो ब्रह्म है उसे ही मौलिक तत्त्व कहते हैं, जो यज्ञ है उसे ही यौगिक तत्त्व कहते हैं। यही दोनों हमारे विज्ञान के भौतिक और रसायन (फिजिक्स और केमिस्ट्री) हैं। संसार में जो दृश्य पदार्थ है वह सम्पूर्ण यज्ञ है, यौगिक तत्त्व है एवं जिससे यह दृश्य प्रपञ्च उत्पन्न हुआ है- इसी का नाम ब्रह्म है।

ब्रह्म अतिसूक्ष्म है—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि से रहित है अतएव अप्रत्यक्ष है, इन्द्रिय अगोचर है। मौलिक तत्त्व का चाक्षुष प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता। जो दृश्य वस्तु है, वह मौलिक हो ही नहीं सकती। अतः यज्ञ का ही प्रत्यक्ष होता है, ब्रह्म का नहीं।

आत्मा को अव्यय-अक्षर-क्षर समष्टि रूप में त्रैधातव्य बतलाया गया है। इसमें जो क्षर है वह—आत्म, विकार, यज्ञ भेद से तीन प्रकार का है। ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम यह पाँच अक्षर है। आत्म क्षर से पूर्व में प्राण, आप, वाक्, अन्नाद, और अन्न यह पाँच मण्डल उत्पन्न होते हैं। संसार के समस्त पदार्थ इन्हीं पाँचों से उत्पन्न होते हैं। यही सर्वहुत यज्ञ संसार के समस्त पदार्थों का उत्पादक है। इसीलिए श्रुति कहती है—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्यादजायत्।।
तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्याज्जाता अजावयः।।

(ऋ. 10/90)

ऋग्वेद में कहा है—

तस्मात् यज्ञात् सर्वहुतः संभृतं पृषत् आज्यम्।
पशून् तान् चक्रे वायव्यान् आरण्यान् ग्राम्याः च ये।।

(ऋ.म. 10/अ.7/सू.90/8)

अर्थात् जिस यज्ञ में सर्वात्मक पुरुष का हवन होता है, उस मानस यज्ञ से दधिमिश्रित घृत आदि उत्पन्न हुए। उससे वायु देवता वाले वन्य (हरिण आदि) और ग्राम्य (कुक्कुर) आदि पशु उत्पन्न हुए।

तस्मात् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् यजुः तस्मात् अजायत्।। *(ऋ. 10/7/90/9)*

सर्वात्मक पुरुष के होम से युक्त उस यज्ञ से ऋक् और साम उत्पन्न हुए। उससे गायत्री आदि छन्द उत्पन्न हुए और उसी से यजुः की भी उत्पत्ति हुई।

ब्राह्मणः अस्य मुखम् आसीत् बाहू इति राजन्यः कृतः।
उरू इति तत् अस्य यत् वैश्यः पदभ्यां शूद्रो अजायत्।। *(ऋ. 10/7/90/12)*

जो विराट् पुरुष उत्पन्न हुए इनका मुख ब्राह्मण हुआ, दोनों बाहुओं से क्षत्रिय बनाया गया, दोनों उरूओं (जघनो) से वैश्य हुआ और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुआ।

चन्द्रमा मनसो जातः चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखात् इन्द्रःच अग्निः च प्राणात् वायुः अजायत।। *(ऋ. 10/7/90/13)*

अर्थात पुरुष के मन से चन्द्रमा, नेत्र से सूर्य, मुख से इन्द्र और अग्नि तथा प्राण से वायु उत्पन्न हुए।

नाभ्या आसीत् अन्तरिक्षं शीर्ष्णः द्यौः समवर्तत।
पदम्यां भूमिः दिशः श्रोत्रात् तथा लोकान् अकल्पयन्।। *(ऋ. 10/7/90/14)*

पुरुष की नाभि से अन्तरिक्ष, शिर से द्यौ (स्वर्ग) चरणों से भूमि, श्रोत्र से दिशाऐं आदि भुवन बनाये गये।

सप्त अस्य आसन् परिधयः त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवाः यत् यज्ञम् तन्वानाः अबन्धन् पुरूषं पशुम्।। *(ऋ. 10/7/90/15)*

अर्थात् प्रजापति के प्राणादि रूप देवों ने मानसिक यज्ञ के सम्पादन काल में जिस समय पुरुष रूप पशु को बांधा, उस समय सात परिधियाँ जिसमें ऐष्टिक आहवनीय की तीन और उत्तर वेदी की तीन वेदियाँ तथा एक आदित्य-वेदी आदि सात परिधियाँ अथवा सात छन्द) बनाई गई और इक्कीस (बारह मास, पांच ऋतुएँ, तीन लोक और आदित्य) यज्ञीय काष्ठ अथवा समिधाएं बनाई गई। *अथर्ववेद* में एक ही परमेश्वर को समस्त वेद पुराणों का आविर्भाव माना है। *ऋग्वेद* के अनुसार—

सम्पतत्रैः द्यावाभूमी जनयन देव एकः। *(ऋ.म. 8/6/81/3)*

अर्थात् प्रलयकाल में एक अद्वितीय ब्रह्म ही स्वधा अर्थात् अपने कारणरूप स्वरूप के साथ विराजमान था। इस मन्त्र से स्पष्ट सिद्ध है कि प्रलयकाल में ब्रह्म के साथ स्वधा नाम की प्रकृति थी।

एक अद्वितीय परमात्मा ने परमाणुओं द्वारा पृथ्वी आदि लोकों का निर्माण किया।

एकद्वयेवाक्षरं सर्वे देवाः, सर्वाणि भूतान्यभिसम्पद्यते।

(शत.ब्रा. 10/2/7/9)

अर्थात् कूटस्थ क्षर ब्रह्म का विकास अक्षर से हुआ है। भूतात्मिका मर्त्य अर्थसृष्टि का विकास अमृतलक्षण एक ही अक्षर से हुआ है। 'ब्रह्माक्षरसमुदभवम् के अनुसार अक्षर से ही क्षर नामक ब्रह्म का प्रादुर्भाव हुआ है। यजुर्वेद (31/9) में यज्ञपुरुष द्वारा परमेश्वर पुरुष को 'यज्ञम्' कहा है। महर्षि दयानन्द के अनुसार, सम्यक् पूजने योग्य परमात्मा को अर्थात् परमेश्वर को 'यज्ञ' कहते हैं। ऋग्वेद में प्रजापति (अर्थात् विश्वकर्मा और त्वष्टा) को अद्वितीय व जगत् का स्रष्टा कहा है।

एकं सद् विप्र बहुधा वदन्ति। *(ऋ.सं. 1/164/46)*

अर्थात् सत् तत्त्व एक ही है। एकत्व में ही अनेकत्व की प्रतीति होती है।

ऋग्वेद में वर्णित परमतत्त्व के एकत्व और अजत्व की अभिव्यक्ति अद्वैतवाद के समान है। पुरुषसूक्त के विराट पुरुष में ब्रह्म के स्वरूप का ही वर्णन किया गया है।

सहस्रः शीर्षा पुरूषः सहस्राक्षः। *19*

उस विराट पुरुष को सहस्र शिर, अनन्त चक्षु तथा अनन्त चरणों वाला कहा गया है। आदि पुरुष से ब्रह्माण्ड, देह उत्पन्न हुआ तब जीवरूप से पुरुष उत्पन्न हुए। नासदीय सूक्त में जगत् की आरम्भिक स्थिति का वर्णन किया गया है। प्रलयकाल में केवल एक तत्त्व (परमात्मा) के अतिरिक्त कुछ शेष नहीं था। अज्ञान द्वारा सत् तत्त्व आच्छन्न था।

कामस्तदग्रे समवर्ततााधि मनसो रेतः प्रथम यदासीत्।

(ऋ.सं. 10/120/3)

आरम्भ में न असत् तत्त्व था, न सत् तत्त्व था, केवल मन मात्र की सत्ता थी। मन ने ही नानारूप ग्रहणकर सिसृक्षा (सृष्टि) की इच्छा की।

यदस्य जगतो मूल कारणं तत् असत् शशविषाणवन्निरूपाख्यं न आसीत्। तथा नो सत् नैवसदात्मवत् सत्वेन निर्वाच्यं आसीत्। *(सायण भा.ऋ. 10/129/1)*

सर्वप्रथम परमात्मा से बीज की उत्पत्ति हुई। नासदीय सूक्त में असत् शब्द का अर्थ शशविषाणवत् असत् तथा सत् शब्द से तात्पर्य निर्वाच्य पदार्थ से है। अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत सत्-असत् की विवेचना का आरम्भिक रूप नासदीय सूक्त में ही प्राप्त होता है। वेदान्त में मायिक जगत् को सत्-असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय कहा है। यह सिद्धान्त नासदीय सूक्त में—**न असद् आसीत न सत आसीत तदानीं** (नासदासीन्नो सदासीत्तदानी) मन्त्र में प्राप्त होता है। *ऋकसंहिता* के अन्तर्गत विभिन्न श्रुतिया यथा—**'ब्रह्मवेदं सर्वम्'** अर्थात् ब्रह्म ही सब कुछ है। **'सर्व खल्विदं ब्रह्म।'** यह सब दृश्यमान प्रपञ्च विश्व ब्रह्म है। इत्यादि रूप में सर्वरूप विश्व एकत्वमूलक ब्रह्म का विधान करती है। इसी प्रकार **'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'** *(ऋ.सं. 6/4/29)* अर्थात् एक ब्रह्म ही यह सब कुछ बना हुआ है। एक रूप होते हुए भी उसे विद्वान लोक-अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि नाना रूप से व्यवहृत करते हैं।

तमेकं- सन्तं विप्रा बहुधा वदन्ति। *(ऋ.सं. 1/164/46)*

अग्नि में सोम की आहुति देने का नाम ही 'यज्ञ ' है। अग्नि की अवस्था विशेष का नाम ही देवता है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर- भगवान याज्ञवल्क्य कहते हैं - ''**अग्निर्वै सर्वा देवताः।**'' इति। अग्नि ही समस्त देवता है। अग्नि में ही समस्त देवताओं के लिये आहुति दी जाती है। जगत् में जितने भी दृश्यमान पदार्थ है वे सभी अग्निसोमात्मक हैं। 'इन्द्र-वसु-रूद्र-आदित्य' सारे देवता अग्नि में ही रहते हैं अर्थात् 'आग्नेय' है एवं इसी अग्नि में सोमाहुति पड़ती है, इसी अभिप्राय से कहते हैं—

अग्नौ हि सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोति।

सम्पूर्ण कथन का सारांश यही हुआ कि परमेष्ठ्य भृगु की (अर्थात् क्रन्दसी त्रिलोकी के साम की) हर समय पार्थिव अग्नि (अर्थात् रोदसी की अग्नि) में आहुति होती रहती है। इस प्रकार से संसार का स्वरूप बनाने वाला यह प्राकृतिक सोमयाग अनवरत होता रहता है। अग्नि को ही यज्ञ कहते हैं क्योंकि इसमें जब क्रन्दसी के सोम की आहुति होती है- तभी तीन यज्ञ का स्वरूप बनता है। इसीलिये 'अग्निर्वै यज्ञः' कहा जाता है।

इसी रोदसी के अग्नि यज्ञ के प्रारम्भ में तो अग्नि है और अन्त में विष्णु है। इस छोर अग्नि है, उस छोर विष्णु है। समस्त देवताओं के आदि में अग्नि है और अन्त में विष्णु है। इसीलिये—**'विष्णुर्वै देवानां द्वारपालः'** कहा जाता है और इसीलिये—**'अग्नि च ह वै विष्णुश्च देवानां दीक्षापालौ'** कहा जाता है। इसी अभिप्राय से महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं—**'अग्निर्वै यज्ञस्यावरार्ध्यो विष्णुः परार्ध्यः।'** इसीलिये तो आदित्य चरू का खण्डन करते हुए भगवान ऐतरेय कहते हैं—

''अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः।'' इति

(शतपथ ब्राह्मण/तृ. काण्ड/अ.1)

ऋक-यजुः-साम-अथर्व की समष्टि ही 'ब्रह्म' है। ब्रह्म का ऋङ्मय अग्निभाग अर्थप्रधान है। यजुर्मय वायुभाग क्रिया प्रधान है एवं सामान्य आदित्य भाग ज्ञान प्रधान है। अर्थतत्व स्थूल जगत् कर्मप्रधान है। क्रियातत्व स्थूल, सूक्ष्म जगत् ज्ञानकर्ममय है तथा ज्ञान तत्व सूक्ष्म जगत् ज्ञानप्रधान है। तीनों क्रमशः कर्मयोग-भक्तियोग-ज्ञानयोग की मूल प्रतिष्ठा है।

आदित्य नाम से प्रसिद्ध द्युलोकस्थ अग्नि सामवेदमूर्ति है। इसी को स्पष्ट करने के लिये सामतत्व की प्रतिपादिका सामसंहिता का आरम्भ 'अग्न आयाहि वीतये' इत्यादि रूप में हुआ है। सामवेद के तृतीय अध्याय के प्रथम खण्ड में इन्द्र की स्तुति करते हुए कहा है—

ईशानमस्य जगतः स्वः दृशम ईशानम इन्द्र तस्थुषः।

(सामवेद संहिता ऐन्द्र पर्व 3/1/1)

अर्थात् हे इन्द्र! तुम ही इस स्थावर जगत् के स्वामी हो, सभी के दृष्टा हो।

एषा ब्रह्मा य ऋत्विय इन्द्रो नाम श्रुतो गुणे। *(साम संहिता 3/9/9)*

ऋत्विय जो इन्द्र नाम से प्रसिद्ध है वह ब्रह्म स्तोताओं के मनोरथों को बढ़ाने वाला है, इसकी मैं स्तुति करता हूँ। सामसंहिता में ब्रह्म का निरूपण इस प्रकार किया गया है—

ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणा महिषो मृगाणाम्।

(साम संहिता 9/5/6/2)

अर्थात् स्तुति करने वाले ऋत्विजो में ब्रह्मा नामक ऋत्विज रूप परम बुद्धिमान सुन्दर पदों की योजना करने वाला विषयों में परोक्ष विषय को देखने वाला है।

''पिता देवानां विश्वाभि धाम''

अर्थात् हे सोम! सबका पालन करने वाला तू देवताओं के सकल शरीरों की ओर लक्ष्य करके बरस। दशम अध्याय में सोम स्तुति के अन्तर्गत वर्णन किया गया है—

अक्रां समुद्रः प्रथमे विधर्मं जनमन्प्रजा-भुवनस्य गोपा वृषा पवित्रे।

अधिसानौ अव्ये बृहत्सोमो वावृधे-स्वानो अद्रिः।

अर्थात् जलों की वर्षा करने वाला, सबका रक्षक सोम अन्तरिक्ष में प्रजाओं को उत्पन्न करता हुआ सबसे बड़ा होता है। तत् ब्रह्म को 'ॐ ' से जाना जाता है। **'ॐ खं ब्रह्म'** *(यजु. सं. 40/17)*

वह आकाश के समान व्यापक है। यजुर्वेद के मन्त्रों में भी ईश्वर प्रजापति का स्वरूप विश्लेषण किया गया है।

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति

..... सचते स षोडशी। *(यजुर्वेद 8/36)*

अर्थात् उत्पन्न होने वाले पदार्थ जिससे भिन्न नहीं है, जो सम्पूर्ण भुवनों में अन्तः प्रविष्ट हैं अपनी प्रजा के साथ संयुक्त होता हुआ वह षोडशी प्रजापति तीन ज्योतियों से व्याप्त हो रहा है। श्रुति के अन्तर्गत ''यस्यान्न जातः परो अन्यो अस्ति'' इस वाक्य से प्रजा और प्रजापति का अभेद बतलाया है।

उसे षोडशी (षोडशकल) बतलाते हुए, तीन ज्योतियों से समन्वित मानते हुए सर्वव्यापक भी माना है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है-

प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च। *(शत.ब्रा. 11/2/31)*

प्रजापति ही सब कुछ है, जो कि नाना रूप से प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है।अन्य यन्त्रों में भी वर्णन किया गया है—

षोडशकलं वा इदं सर्वम् । *(शत. ब्रा. 13/2/2/13)*

पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल क्षर, एक कल निष्कल परात्पर इन सोलह (16) कलाओं से युक्त षोडशी प्रजापति से उत्पन्न यह सम्पूर्ण विश्व व्यष्टि एवं समष्टि रूप से उभयथा षोडशकल है। इसी प्रकार *शुक्ल यजुर्वेदीय माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण* में भी ब्रह्म निरूपण किया गया है—

सर्वमुह्यो वेदं प्रजापतिः। *(शत. ब्रा. 4/1/4)*

सर्वेह्ययमात्मा। *(शत. ब्रा. 4/2/2/1)*

इमे लोकाः प्रजापतिः। *(शत. ब्रा. 7/5/1/27)*

अर्थात् यह सब कुछ दृश्यमान विश्व प्रजापति ही है। यह सब कुछ प्रलय दशा में आत्मा ही है। यह सातों लोक प्रतिसर्ग दशा में प्रजापति है।

''प्रजापति वा इदमग्र एक एवास''। *(शत. ब्रा. 2/2/4/1)*

जब यह नानाभावरूप विश्व नहीं था तो उस समय प्रजापति ही एक रूप में विद्यमान था।

रूपं व नाम वै प्रजापति। *(शत. ब्रा. 2/2/7/1)*

रूप एवं नामात्मक यह प्रपञ्च प्रतिसञ्चरदशा में प्रजापति ही है।

स एष संवत्सरः प्रजापति षोडशकलः। *(शत.ब्रा. 14/4/3/32)*

यः स भूतानां पतिः संवत्सरः सः। *(शत. ब्रा. 6/31)*

संवत्सरो वै पिता वैश्वानरः। *(शत. ब्रा. 1/5/1/16)*

तस्मादाहुः संवत्सरस्य सर्वे कामाः। *(शत. ब्रा. 10/2/4/1)*

ऋतवः संवत्सरः। *(तै. ब्रा. 3/9/9)*

अर्थात् षोडशकल आत्मा के सम्बन्ध से हम संवत्सर को भी षोडशकल कह सकते हैं। विश्व में जो भूपति के नाम से प्रसिद्ध है, वह यही संवत्सर है। कारण भूतों को उत्पन्न कर उन पर शासन करना संवत्सर का ही काम है। ऋतुओं की समष्टि ही संवत्सर है। **स वै यज्ञ एवं प्रजापतिः।** *(शत. ब्रा. 1/7/4/4)*

अर्थात् वह संवत्सर रूप यज्ञ ही प्रजा उत्पादन के कारण प्रजापति है। **यज्ञाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते।** *(शत. ब्रा. 4/4/2/9)* यज्ञ से ही सम्पूर्ण प्रजा उत्पन्न होती है।

अथर्ववेद में भी अद्वैत वेदान्त के अनुसार ही जगत् का उपादान कारण 'ब्रह्म' को ही कहा गया है। *अथर्ववेद* के कुछ मन्त्रों में ब्रह्म को 'वर्म' कहा है।

प्रजापतेरावृत्तो ब्रह्मणा धर्मणाहम्। *(अथर्व 17/1/27)*

परीवृतो ब्रह्मणा वर्मणाम्। *(अथर्व 17/1/27)*

मन्त्र के अन्तर्गत 'ब्रह्मणा' का अर्थ—ब्रह्म निरूपित 'वेद' प्रतिपादित किया है। वेदोपदेश वर्म अर्थात् कवचरूप है। हृदयान्तर्वर्ती वर्म या कवच ब्रह्म को जीव के लिये 'परिधि' भी कहा है। जैसा कि मन्त्र से स्पष्ट है—

यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनायकम्। *(अथर्व. 8/2/25)*

वर्म और परिधि शब्दों के अभिप्राय समान हैं। वर्म का अर्थ—'आवरण करने वाला' और परिधि का अर्थ—'सब ओर धारण किया गया।' अथर्व संहिता में ब्रह्म के दो अर्थ वर्णित है—वेद और परमेश्वर। ब्रह्मचारी के भी दो अर्थ है—ब्रह्म अर्थात् वेदाध्ययन के निमित्त जिसने व्रताचरण किया है।

''ब्रह्म वेदः तदध्ययननिमित्तं व्रतमाचारितुम

य शीलं यस्य स ब्रह्मचारी।''

अर्थात् सदा ब्रह्म में विचरण करने वाला। इस प्रकार वेदों में भी अद्वितीय जगत्कर्ता, सर्वव्यापक तथा सर्वशक्तिमान के रूप में ब्रह्म का स्वरूप प्राप्त होता है।

देवता ब्रह्म है, यज्ञ कर्म है। यज्ञ सांयोगित पदार्थ है, अग्नि में सोमाहुति से यज्ञ का स्वरूप बनता है। शतपथ ब्राह्मण के तृतीय काण्ड के प्रथम अध्याय में वर्णन है—

'स्वाहा यज्ञं मनसे'- इति द्वे। 'स्वाहोरोरन्तरिक्षात्' इति द्वे। 'स्वाहा धावा पृथिवीभ्याम्' इति द्वे। 'स्वाहा वातादारभे' इति मुष्टि करोति। न वै यज्ञः प्रत्यक्षमिवारभे। यथायं दण्डो वा वासोवा। परोक्ष वै देवाः परोक्षं यज्ञः। *(शत. ब्रा. 3/1/25)*

यज्ञ-मन में, द्यावा पृथिवी में, वायु एवं अन्तरिक्ष में, इतने ही स्थानों में रहता है। इन समस्त स्थानों से यज्ञ को आत्मसात् करने के लिये ही **'स्वाहा यज्ञं मनसे'** इत्यादि कहा है। यह प्रकृति यज्ञ का स्वरूप है। ऐसी अवस्था में यदि हम 'स्वाहा' स्वमन्होति व्याप्नोति। बोलते हैं तो इस सजातीय वाक् लहर से देवता अन्न को ग्रहण कर लेते हैं। परन्तु यदि स्वधा बोला जायेगा तो देवता-दूर हट जायेगें एवं उस स्थान पर पितर प्राण आ जायेगें। स्वधा पितरों का अन्न है स्वाहा देवताओं का अन्न है। बिना स्वाहा के यज्ञ नहीं हो सकता अतएव हम 'स्वाहा' को यज्ञ कह सकते हैं। इसीलिये **'यज्ञो वै स्वाहाकारः'** कहा गया है। ऐसी स्थिति में यज्ञ को मुष्टि द्वारा आत्मसात् करता हुआ यह यजमान यदि 'स्वाहा' नहीं बोलेगा तो यज्ञ आत्मसात् होगा ही नहीं। क्योंकि यज्ञ का स्वरूप तो 'स्वाहा' ही है। इसीलिये **'स्वाहा यज्ञं मनसे'** इत्यादि में स्वाहा स्वाहा बोला जाता है। इस प्रकार वेदों में ब्रह्म व यज्ञ के विशद स्वरूप का यहाँ संक्षिप्त वर्णन किया है।

अध्यक्ष,
संस्कृत विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।
मो.नं. 9950034281
Email : jyotsnavashishtha@gmail.com

उद्धवगीता का दार्शनिक विवेचन

डॉ. समीर कुमार

यह गीता *भागवतपुराण* के एकादश स्कन्ध के अध्याय 7 से 29 तक है। इसमें कुल 1030 श्लोक है। इस गीता के अन्तर्भूत अवधूतगीता 7-9 अध्याय में, आठवें अध्याय में पिङ्गला गीता, 13वें अध्याय में हंसगीता, 23वें अध्याय में भिक्षुगीता तथा 26वें अध्याय में ऐलगीता उपनिबद्ध है तथा प्रसिद्ध है। उद्धवजी को जब ज्ञात होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण इस धरातल से शीघ्र प्रयाण करने वाले हैं तो ब्रह्मज्ञान विषयक जिज्ञासा रखते हैं। तब भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धव की समग्र जिज्ञासाओं का समाधान इस दिव्य गीता के माध्यम से किया। यह गीता परमपवित्र भागवत पुराण के दार्शनिक तत्त्वों का सारभूत अंश है। इसमें सांसारिक वासनाओं को त्याग कर भगवद् भक्ति का उपदेश देते हैं, तब उद्धव कहते है विषयी पुरुष के द्वारा इन्द्रिय निग्रह असम्भव है। संसार त्यागना कोई सहजसम्भव कार्य नहीं है तो भगवान् श्रीकृष्ण अवधूत दत्तात्रेय एवं राजा यदु का संवाद सुनाते हैं। दत्तात्रेय ने वैराग्य के उत्पादक 24 गुरुओं से निर्देश लिये हैं। इन 24 गुरुओं से शिक्षा ग्रहणकर वे अद्भुत वैरागी बने। दत्तात्रेय के 24 गुरु हैं—पृथिवी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतङ्ग, भौंरा या मधुमक्खी, हाथी, शहद निकालने वाला, हिरण, मछली, पिङ्गला वेश्या, कुरर पक्षी, बालक, कुमारी कन्या, बाण बनाने वाला, सर्प, मकड़ी और भृङ्गी कीट। इन गुरुओं से उनके सद्गुणों की शिक्षा ग्रहण करके ही दतात्रेय में दिव्यज्ञान का उदय हुआ है। शिक्षार्थियों के लिए इन्हीं गुरुओं का आचरण बड़ा शिक्षाप्रद है। इनसे सीखे गये गुण मानव के आध्यात्मिक जीवन के परम उत्थान हेतु परमावश्यक है। भगवान् इस गीता में लौकिक एवं पारलौकिक भोगों की असारता का युक्तिसंगत प्रदर्शन करते हैं। इसमें वासनाबद्ध एवं मुक्त भक्तजनों के स्वरूप का स्पष्टीकरण का वर्णन है। सत्सङ्ग की महिमा तथा निष्काम कर्म की विधि सुस्पष्ट की गई है। हंस रूप में सनकादि को दिये गये उपदेशों का वर्णन है। इस गीता में भक्तियोग की महिमा का विस्तृत शास्त्रीय विवेचन है। साधना के बीच मिलने वाली सिद्धियाँ भक्ति भाव में बाधक बनती है। अत: भक्तों को उनसे दूर ही रहना चाहिये। भगवान् की विभूतियों का विस्तार में प्रतिपादन है। मानव के विशेष धर्म-वर्णाश्रम का भी विवेचन है। प्रसङ्गत: वानप्रस्थ एवं संन्यासी के कर्म भी यहाँ निरूपित किये गये हैं। मानव के सामान्य धर्म यम, नियम आदि का भी शास्त्रीय विवेचन है जो भक्तिमार्ग में पूर्णत: आवश्यक होता है। मोक्ष के साधन स्वरूप ज्ञानयोग, कर्मयोग तथा भक्तियोग का प्रौढ़ शास्त्रीय तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए सिद्ध किया है कि वैराग्यप्रधान साधक ज्ञानमार्ग के, वैराग्य रहित सकाम साधक कर्मयोग के तथा जो न विरक्त है न आसक्त, केवल श्रद्धालु है, वे सब भक्ति के द्वारा ही मोक्ष

के अधिकारी बनते हैं। अधिकारियों के भेद से मोक्षमार्ग भी त्रिविध है। विषयभोगानुरागी जन्मजन्मान्तर तक संसार में ही भटकते रहेंगे। इसके बाद सांख्य दर्शन की तत्त्वमीमांसा का विवरण दिया गया है। पुरुष एवं परम पुरुष के स्वरूप का भी निर्णय है। इस गीता में एक तितिक्षु ब्राह्मण का उपाख्यान भी प्रस्तुत हुआ है। अर्थ के कारण पन्द्रह अनर्थ पैदा होते हैं—चोरी, हिंसा, झूठवचन, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, अहंकार, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्द्धा, लम्पटता, जुआ और शराब। अर्थपिपासु धनी ब्राह्मण के सम्पूर्ण धन के नष्ट होने पर उसमें अर्थशून्यताके कारण उत्कट वैराग्य उत्पन्न होता है। चूँकि अर्थ के अनर्थकारक रूप को साक्षात्करके वह वैरागी बनकर प्रभुभक्ति में सर्वात्मना लीन हो जाता है। मौनी बनकर सांसारिक सर्वविध आसक्ति के बिना बहुविध विघ्न बाधाओं से ग्रसित होकर भी मन को पूर्णत: सारतत्त्व भक्ति में लगाता रहा तथा ज्ञान एवं वैराग्य के माध्यम से परमगति को प्राप्त कर लेता है। यहाँ महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि उसके धन के नष्ट होने पर ही उसके सारे क्लेश भी दूर हो गये तथा ब्रह्मज्ञान में वह पूर्णनिष्ठ हो गया। अत: परम ज्ञान की प्राप्ति में धन का कोई महत्त्व सिद्ध नहीं होता है।

इस गीता में सांख्ययोग के अनुसार दार्शनिक विचार, तीन गुणों की वृत्तियों का निरूपण भी किया गया है। उदाहरणार्थ इन्द्रिय कामासक्त पुरुरवा का उर्वशी के लिये विलाप तथा उससे वियोग से वैराग्योत्पत्ति की विशेषता वर्णित है। अन्त में परमज्ञान होने पर वह उर्वशी के वियोगजन्य दु:ख से मुक्त हुआ। उपासनायोग तथा उसकी विधि का सविस्तार वर्णन भक्त के करणीय कर्मों का प्रतिपादन हुआ है। अन्त में परमार्थ एवं भागवत धर्मों का विस्तृत वर्णन है। श्रीकृष्ण से सम्पूर्ण उपदेश प्राप्त कर उद्धव बदरिकाश्रम में जाकर जप, तप आदि का आचरण करने हेतु प्रस्थान करते हैं। इस गीता का सारांश यह है कि विवेकियों के विवेक और चतुरों की चतुराई की पराकाष्ठा इसी में है कि वे अविनाशी और असत्य शरीर के द्वारा अविनाशी, सत्यस्वरूप, भगवान् को प्राप्त कर लेवें।

परमज्ञान की प्राप्ति का ऐसा उच्चस्तरीय प्रामाणिक शास्त्रीय विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है। अत: यह कथन टीक ही है कि 'यह उद्धव गीता रूप ज्ञानामृत आनन्द महासागर का सार है जो श्रद्धा के साथ इसका सेवन करता है वह तो मुक्त हो ही जाता है, उसके सङ्ग से सारा जगत् मुक्त हो जाता है'

य एतदानन्दसमुद्रसम्भृतं ज्ञानामृतं भागवताय भाषितम्।
कृष्णेन योगेश्वरसेविताङ्घ्रिणा सच्छ्रद्धयाऽऽसेव्यजगद्विमुच्यते।।

(29.48)

इसमें भगवान् श्रीकृष्ण के स्वधाम गमन के पूर्व अपने अनन्य प्रेमी उद्धवजी को तात्विक ज्ञान का उपदेश निरूपित है। भगवान् श्रीकृष्ण के परम प्रेमी और भक्त उद्धवजी को जब इस बात का पता चला कि भगवान् श्रीकृष्ण अपनी लीला समेटकर शीघ्र ही इस लोक का परित्याग कर देंगे तो वे तुरन्त ही भगवान् श्रीकृष्ण के पास एकान्त में गए और उनसे सविनय कहने लगे—योगेश्वर! मैं आपके बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता।

मेरे स्वामी! आप मुझे भी अपने धाम में ले चलिए। आप हमारे प्रियतम हैं, आप हमारी आत्मा ही हैं। हमें आपकी माया का डर नहीं है, डर है तो केवल आपके वियोग का।

उद्धवजी की बात सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—महाभाग्यवान् उद्धव! पृथ्वी पर देवताओं का जितना कार्य करना था, उसे मैं पूरा कर चुका। आज के सातवें दिन समुद्र इस पूरी द्वारका को डुबा देगा। जिस क्षण मैं मर्त्यलोक का परित्याग कर दूँगा, उसी दिन इसके सारे मंगल नष्ट हो जाएँगे। थोड़े ही दिनों में पृथ्वी पर कलियुग का वर्चस्व हो जाएगा। अब तुम सांसारिक स्नेह बन्धन छोड़कर अनन्य प्रेम से मुझमें अपना चित्त लगाकर समदृष्टि से पृथ्वी में स्वच्छन्द रूप से विचरण करो। इस जगत् में इन्द्रियों से अनुभूत सभी विषय नश्वर हैं, मिथ्या हैं। अतः तुम पहले अपनी इन्द्रियों को वश में कर लो। साथ ही चित्त की समस्त वृत्तियों को भी रोक लो। फिर ऐसा अनुभव करो कि सारा जगत् अपने आत्मा में ही फैला हुआ है और आत्मा मुझ परब्रह्म से अभिन्न है। इस प्रकार शान्त वृत्तियों वाले व्यक्ति को समस्त प्रतीयमान विश्व मेरा ही स्वरूप, आत्मस्वरूप दिखाई देता है। फिर उसे कभी भी जन्म-मरण के चक्र में नहीं पड़ना पड़ता।

भगवान् श्रीकृष्ण के इन वचनों को सुनकर उद्धवजी ने भगवान् से आत्म तत्त्व का उपदेश देने के लिए सविनय प्रार्थना की।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—उद्धव! समस्त प्राणियों की, विशेष रूप से मनुष्य की आत्मा अपने हित और अहित की उपदेशक गुरु है। मनुष्य शरीर में एकाग्रचित्त, तीक्ष्ण बुद्धि पुरुष बुद्धि आदि से अग्राह्य मुझ सर्वप्रवर्तक ईश्वर का साक्षात् अनुभव करते हैं।

इस विषय में भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवजी को तेजस्वी अवधूत दत्तात्रेय और महाराज यदु के संवाद का प्राचीन इतिहास बताते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—एक बार हमारे पूर्वज महाराज यदु ने त्रिकालदर्शी दत्तात्रेय को से बालक के समान विचरते देखा। उन्होंने दत्तात्रेयजी से पूछा—ब्रह्मन्! आपको अपनी आत्मा में ही ऐसे अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव कैसे होता है ? महाराज यदु के आदरपूर्वक एवं सविनय सत्कार के पश्चात् ब्रह्मवेत्ता दत्तात्रेयजी ने कहा—राजन्! मैंने अपनी बुद्धि से बहुत से गुरुओं का आश्रय लेकर उनसे शिक्षा ग्रहण की है। इसीलिए मैं इस जगत में मुक्तभाव से स्वच्छन्द विचरता हूँ। मेरे गुरुओं के नाम हैं—पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतंग, भौंरा (मधुमक्खी), हाथी, शहद निकालने वाला, हरिन, मछली, पिंगला, वेश्या, कुररपक्षी, बालक, कुंआरी कन्या, बाण बनाने वाला, सर्प, मकड़ी और भृंगी कीट। मैंने इन चौबीस गुरुओं से जो शिक्षा ग्रहण की है, उसका वर्णन करता हूँ। हे राजन् पृथ्वी से हमने क्षमा और परोपकार की शिक्षा ग्रहण की है। वायु से अनासक्त भाव और जितना जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक हो, उतना ही ग्रहण करने से संतोष की शिक्षा हमको प्राप्त हुई है।

आकाश से व्यापकता और असंगता की शिक्षा हमको मिली है। जल से स्वच्छता और मधुरता के गुण हमको मिले हैं।

अग्नि का उदर ही उसका पात्र है। जो कुछ उसे अर्पित किया जाता है, वह उसी में उसे रख लेता है। इसी प्रकार साधक को भी जो कुछ प्राप्त हो, उसे ग्रहण कर ले। भविष्य की चिन्ता न करे। चन्द्रमा सर्वदा एकरस है, अतः उससे हमने आत्मा की एकरसता के गुण का ज्ञान प्राप्त किया है। सूर्य से 'मैंने ग्रहण करके फिर कालान्तर में उसे त्याग देने का' गुण प्राप्त किया है। सूर्य की ही भांति साधक भी इन्द्रियों के अनुरूप वस्तुओं का ग्रहण करके फिर उनका त्याग कर देता है।

सभी प्राणियों के जन्म-मरण का हेतु स्नेह ही है। उसी स्नेहरूपी आसक्ति का त्याग ही मोक्ष रूप सुख का साधन है। कपोत से हमने स्नेह त्याग का गुण सीखा है।

अजगर दैवयोग से प्राप्त हुए साधन से ही जीवन निर्वाह कर संतुष्ट रहता है, उसी प्रकार अपने योग क्षेम की चिन्ता हमें नहीं रहती। समुद्र से हमने सदैव मर्यादा के निर्वाह का गुण सीखा है। पतंग से हमने मन को आत्मा में लीन कर देने का गुण सीख लिया है।

भौंरा या मधुमक्खी जिस प्रकार क्रमशः पुष्पों से रस लेकर अपनी रुचि के अनुरूप रस जमा कर लेते हैं, उसी प्रकार हम भी घर-घर जाकर थोड़ी-थोड़ी रोटी लेकर अपनी उदरपूर्ति कर लेते हैं। इस विषय में भौंरा हमारा शिक्षक है। हाथी से हमने वंचना माया के त्याग की शिक्षा ग्रहण की है।

मैंने शहद निकालने वाले पुरुष से यह शिक्षा ली कि लोभ का परिणाम दुःखदायी होता है। हरिन से हमने यह शिक्षा ली है कि संन्यासी को कभी विषय-सम्बन्धी गीत नहीं सुनने चाहिए।

मछली से हमने आहार के लोभ से उत्पन्न हुई परतन्त्रता के त्याग की शिक्षा ली है।

पिंगला वेश्या से हमने निराशाजन्य वैराग्य का पाठ ग्रहण किया है। राजन्! भोगों का त्याग रूपी गुण हमने कुरर पक्षी से सीखा है। चिन्तामुक्त होकर आनन्दमग्न होने का गुण हमने बालक से ग्रहण किया है। कुंआरी कन्या से अकेले ही विचरण करने का, बाण बनाने वाले से एकाग्रचित्तता का, सर्प से बने-बनाए मन्दिरों और पर्वत गुफाओं में रहने का, मकड़ी से मन के संकल्पों का त्याग और भृंगी से मोह के त्याग की शिक्षा हमने ग्रहण की है।

प्यारे उद्धव ! मेरा अपना शरीर भी मेरा गुरु ही है, क्योंकि यह मुझे विवेक और वैराग्य की शिक्षा देता है। सभी योनियों में मनुष्य शरीर ही सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि यह ऐसी बुद्धि से युक्त है, जो ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकती है। इसलिए अत्यंत दुर्लभ मनुष्य शरीर प्राप्त कर बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह मृत्यु के पहले ही मोक्ष-प्राप्ति का प्रयत्न कर ले। इस जीवन का मुख्य उद्देश्य मोक्ष ही है। राजन्! मेरे हृदय में ज्ञान-विज्ञान की ज्योति जगमगाती रहती है। मुझे न तो कहीं आसक्ति है और न कहीं अहंकार।

भगवान् श्रीकृष्ण ने आगे कहा—उद्धव ! ब्रह्मवेत्ता दत्तात्रेयजी का उपदेश सुनकर महाराज यदु आसक्तियों से मुक्त होकर समदर्शी हो गए।

इसके आगे भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्यारे उद्धव ! साधक को चाहिए कि वह सब तरह मेरी शरण ग्रहण करे और अन्तर्मुख करनेवाले निष्काम अथवा नित्य कर्म ही करे। सकाम और बहिर्मुख करनेवाले कर्मों का फल दुःख है। जिज्ञासु का परम धन है आत्मा, अतः उसे समत्व भाव से सभी में उसी आत्मा का ही दर्शन करना चाहिए। इस जन्म-मृत्यु रूप संसार का कोई दूसरा कारण नहीं है, केवल अज्ञान ही मूल कारण है। अतः साधक को अपने वास्तविक रूप को जानने—आत्मतत्त्व का दर्शन करने का प्रयत्न करना चाहिए।

प्यारे उद्धव! लौकिक सुख के समान पारलौकिक सुख भी दोषयुक्त ही है।

इसके पश्चात उद्धवजी की जिज्ञासा के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण बद्ध, मुक्त और भक्तजनों के लक्षणों का वर्णन करते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्यारे उद्धव! शरीरधारियों को मुक्ति का अनुभव करने वाली आत्मविद्या और बन्धन का अनुभव कराने वाली अविद्या—ये दोनों ही अनादि शक्तियाँ है। मेरी माया से ही इनकी रचना हुई है। इनका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है। जीव तो एक ही है, व्यवहार के लिए ही वह मेरे अंश के रूप में कल्पित है। आत्मज्ञान से संपन्न होने पर उसे मुक्त कहते हैं और आत्मा का ज्ञान न होने से बद्ध जीव अविद्या से युक्त होने के कारण नित्यबद्ध है और ईश्वर विद्यास्वरूप होने के कारण नित्यमुक्त है। ज्ञान संपन्न पुरुष भी मुक्त ही है। ज्ञानी पुरुष सूक्ष्म और स्थूल शरीरों में रहने पर भी उनसे किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखता, परन्तु अज्ञानी वास्तव में शरीर से कोई सम्बन्ध न रखने पर भी अज्ञान के कारण शरीर में स्थित रहता है। विस्तार से भक्तजनों के लक्षण बताते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्यारे उद्धव ! मेरा भक्त कृपा की मूर्ति होता है। समत्वभाव वाले उस भक्त के जीवन का सार होता है सत्य। उसके मन में कोई पाप-वासना नहीं होती। वह सबका हितैषी, मृदुभाषी और संयमी होता है। स्थिरबुद्धि, धैर्यशाली वह सदैव आत्म-तत्त्व-चिन्तन में संलग्न रहता है। सन्तों की सेवा से मेरे स्वरूप का ज्ञान हो जाता है।

इसके आगे भगवान् श्रीकृष्ण सत्संग की महिमा बताते हुए कहते हैं—प्रिय उद्धव! सत्संग जिस प्रकार मुझे वश में कर लेता है, वैसा अन्य कोई साधन नहीं है। वास्तव में मैं एक ही हूँ। यह जो मेरा अनेकों प्रकार का रूप है, वह तो केवल मायामय है। जो यह बात जानता है, वह वेदों का रहस्य जानता है।

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा हंस रूप से सनकादि ऋषियों को दिए गए आत्मज्ञान का वर्णन है।

इसके आगे भक्तियोग की महिमा और ध्यानयोग का वर्णन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मुझे प्राप्त कराने में अन्य कोई साधन इतना समर्थ नहीं है, जितना अनन्य प्रेममयी मेरी भक्ति। मेरे भक्तियोग के द्वारा आत्मा कर्म-वासनाओं में मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त हो जाता है, क्योंकि मैं ही उसका वास्तविक स्वरूप हूँ। ध्यानयोग से जब साधक का चित्त मुझमें ही समाहित हो जाता है, तब एक ज्योति दूसरी ज्योति में मिलकर एक हो जाती है।

इसके पश्चात् विभिन्न सिद्धियों के नाम और उनके लक्षण, भगवान् की विभूतियों के रूप, वर्णाश्रम धर्म निरूपण, भक्ति, ज्ञान, कर्मयोग, भक्तियोग आदि का विस्तृत वर्णन है।

इसके आगे भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवजी को गुण-दोष व्यवस्था का स्वरूप-रहस्य, तत्त्वों की संख्या, पुरुष, प्रकृति विवेक का स्वरूप-वर्णन करते हैं। सच्चे साधक के सहिष्णु स्वभाव के प्रसंग में भगवान् श्रीकृष्ण एक तितिक्षु ब्राह्मण के इतिहास का उल्लेख करते हैं।

सांख्ययोग तथा तीनों गुणों की वृत्तियों का निरूपण, महाराज पुरुरवा का वैराग्य, क्रियायोग का वर्णन, परमार्थ निरूपण आदि आगे के अध्यायों में उपलब्ध हैं।

मंगलमय भागवत धर्मों का उपदेश करके भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—उद्धवजी ! यह सम्पूर्ण ब्रह्मविद्या का रहस्य मैंने संक्षेप और विस्तार से तुम्हें सुना दिया। उद्धवजी ! यह तुम्हारा और मेरा संवाद स्वयं तो परम पवित्र है ही, दूसरों को भी परम पवित्र करने वाला है।

भगवान् श्रीकृष्ण का परम पावन उपदेश सुनकर उद्धवजी कृतकृत्य हो गए, भाव विभोर और प्रेमातिरेक से भावविह्वल हो गए। उन्होंने भगवान् के चरण कमलों में बार-बार प्रणाम करके उनकी अनन्य भक्ति के लिए प्रार्थना की।

भगवान् के परम प्रेमी भक्त उद्धवजी उनकी दिव्य छवि हृदय में धारण किए हुए बदरिकाश्रम पहुंचे और वहाँ उन्होंने तपोमय जीवन व्यतीत करके भगवान् की स्वरूपभूत परमगति प्राप्त की।

सहायक आचार्य
एस. एस. खन्ना गर्ल्स डिग्री कॉलेज
प्रयाग (उत्तर प्रदेश)
आवास-1208 बरकत नगर (टौंक फाटक)
जयपुर-302015
दूरभाष : 978243220

ऋग्वेदे ऋषिकाणां स्थानम्

डॉ. मिठु-विश्वासः एवं डॉ. शुभ्रजित्सेनः

वैदिककाले भारतीयसमाजं सर्वापेक्षया प्रगतिशीलमासीदिति। वैदिककालस्य मुख्यतः पर्यायद्वयं वर्तते। प्रथमः कालस्तावत् वेदानां रचनाकालः। द्वितीयस्तावत् ब्राह्मणोपनिषत्सूत्रग्रन्थाणां रचनाकालः। परं समाजस्य परिवर्तनेन सह स्त्रीणां सामाजिकदशा क्रमशः ह्रासं गता। वैदिककालादारभ्य अद्यावधि सामाजिकी स्थितिः साहित्ये प्रतिफलिता दृश्यते। साहित्ये समाजस्य प्रतिविम्बनं स्त्रीपुरुषोः कविपरम्परयोः रचनासु समरूपेण प्रासङ्गिकतामभजत। गच्छता कालेन सामाजिकप्रतिकूलतावशात् वैदेशिकानामुपद्रवात् स्त्रीकविभी रच्यमाना ग्रन्था अद्यत्वे दुष्प्राप्या जाताः। तेन हेतुना अद्य सामाजिकानां मनसि प्रश्नः सञ्जायते यत् स्त्रीकवयः कदापि कमपि ग्रन्थं जग्रन्थुर्नवेति। प्राचीनकाले स्त्रियः प्रतिभाशून्या बभूवुर्वा इति प्रश्नः सुतरां समुदेति। यद्यति एते प्रश्नाः नितान्तम् असम्बद्धाः। वस्तुतः आबहोः कालात् स्त्रीकवीनां साहित्यस्य श्रीवृद्धौ योगदानं निरविच्छिन्नतया वर्तते। पुनश्च भगवत्प्रदत्तो नैसर्गिकगुणो नाम काव्यप्रतिभा खलु स्त्रीपुरुषनिर्विशेषम् आश्रयते।

प्राचीनपण्डिताः परवर्तिनो भारतीयाः वेदभाष्यकाराः च वेदशास्त्रम् अपौरुषेयं नित्यञ्चेति प्रमाणीचक्रुः। विविधकुलोत्पन्नानामृषीणां द्रष्टमन्त्रराशिरेव वेद इति कथ्यते। महर्षिः वादरायणः 'शास्त्रयोनित्वात्'[1] इति सूत्रेण ब्रह्मणो वेदस्योत्पत्तेः सिद्धान्तं जग्राह।'शास्त्रयोनित्वात्'इति सूत्रस्य भाष्ये भाषितं शङ्कराचार्येण -'महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेक-विद्या-स्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्व्वज्ञकल्पकस्य योनिः कारणं ब्रह्म'। महर्षिजैमिनि-वादरायणयोः नये,बहवः ऋषयः वेदस्य प्रणेतारो न भवितुमर्हन्ति। वैदिकयुगे पुरुषाः स्त्रियश्चेति ऋषयः मन्त्रानपश्यन्। प्राचीनानां नये,पुरुषैः मन्त्रद्रष्टा ऋषिः चथा च स्त्रीभिः मन्त्रद्रष्ट्री ऋषिः ऋषिका वेति अभिधीयते। सायणाचार्यः ऋषिस्त्रीत्यर्थे ऋषिका ऋषिश्चेति शब्दद्वयं व्यवहृतवान्। सायणाचार्येण ऋग्वेदस्य अष्टममण्डलस्य प्रथमसूक्तस्य ऋष्यादिवर्णनायामुक्तम् -'अतस्तस्या ऋचः शश्वत्यृषिका'।[2] दशममण्डलस्य षष्ठितमे सूक्ते ऋष्यादिवर्णनायां तेनोक्तम् -'षष्ठ्यास्त्वगस्त्यस्य स्वसैषां मातर्षिका'।[3] दशममण्डलस्य सप्तोत्तरशततमसूक्तस्य ऋष्यादिवर्णनायामुच्यते -'प्रजापतेः सुता दक्षिणा सा वा ऋषिका'।[4] ऋग्वेदस्य दशममण्डलस्य पञ्चविंशत्युत्तरशततमे सूक्ते ऋष्यादिवर्णनायाम् सायणः खलु स्त्रियाम् ऋषिशब्दं व्यवहृतवान् -'अम्भृणस्य महर्षेर्दुहिता वाङ्नाम्नी ब्रह्मविदुषी वात्मानम् अस्तौत्। अतः सर्षिः'।[5] सर्षिरिति प्रयोगस्य सन्धिविच्छेदः अयमेव - सा+ऋषिः इति। पूर्वं ब्रह्मविदुषी वाङ्नाम्नी दुहिता चेति

शब्दानां स्त्रीलिङ्गे प्रयोगोऽभवत्। तेन सह सङ्गतिं विधाय उत्तरपदोक्तं सा इति पदं तदिति सर्वनाम्नः स्त्रीलिङ्गरूपम्। तेन समं समानलिङ्गकत्वात् ऋषिरिति पदं स्त्रीलिङ्गान्तमिति। अतः, ऋषीति प्रातिपदिकम् उभयलिङ्गान्तम्।

प्रसङ्गतः उल्लेख्यं यत् प्रोफेसर् हेमान-होरेस-उइलसन्-महाभागस्तस्य स्वरचिते शब्दकोशे ऋषीशब्दम् (ईकारान्तशब्दः) उल्लिलेख। तत्र ऋषीशब्दस्य ऋषेः स्त्रीत्यर्थः। महामहोपाध्यायो मनियर-उइलियमस् अपि तत्संकलिते कोशग्रन्थे ऋषिकाशब्दमुल्लिखितवान्। तत्र स शब्दमिमम् ऋषिकशब्दस्य स्त्रीलिङ्गरूपेण प्रोक्तवान्। तेन ऋषिकशब्दस्यार्थः क्रियते—'Rishi of a lower degree', अपि च ऋषिकाशब्दस्यार्थः क्रियते—'The wife of an inferior Rishi'.

प्रसङ्गत उल्लेख्यं यत् विदुष्यो विविधनामभिरभिधीयन्ते, यथा "ऋषिका" (अर्थात् ऋषि इव मन्त्रद्रष्टुरधिकारिणीति), "ऋत्विका" (यज्ञाधिकारिणी) "ब्रह्मवादिनी" (ब्रह्मज्ञानिनी), "मन्त्रनिद्" अथवा "मंत्रदृक्" (मन्त्रं वा वैदिकं ज्ञानं प्राप्तवती नारी) "पण्डिता" चेति। रामायणे महाभारते च कुन्ती, कौशल्या, तारा, द्रौपदी चेत्यादीनां नारीणां नामभिः समम् "ऋत्विका" "मन्त्रनिद्" चेति शब्दौ उक्तौ। अथर्ववेदे उक्तं यत् कुमारी विवाहयोग्या न मन्यते यावत् ब्रह्मचारिणी न भवतीति।

अतः परं व्याकरणानुसारम् ऋषिकाशब्दस्य व्युत्पत्तिर्निर्णेतव्या। ऋषिशब्दस्योत्तरं कन्प्रत्ययोगेन ऋषिकशब्दस्य निष्पत्तिः। कन्प्रत्ययो विविधेष्वर्थेष्वनुशिष्टो भवति। लघुसिद्धान्तकौमुद्याम् 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः स्वार्थे कन् वक्तव्यः' इति वचनानुसारं सर्वेषां प्रातिपदिकेभ्यः उत्तरमेव स्वार्थे कन्-प्रत्ययः भवितुमर्हति।'पत्यन्तपुरोहितादिभ्य यक्'इत्यस्य सूत्रस्य पुरोहितादिगणे पाणिनिः स्वयमेव ऋषिकशब्दमुच्चारितवान्। तत्र ऋषिकशब्दस्यार्थः ऋषिः (स्वार्थे कन्) ऋषिपुत्रो वेति भवितुमर्हति।

शब्दकल्पद्रुम-वाचस्पत्ययोः ऋषिकशब्दस्य प्रयोगो दृश्यते। तत्रास्य सूत्रस्य व्युत्पत्तौ ऋषिशब्दादुत्तरं कन्प्रत्ययो विहितः। ऋषिकशब्दस्यार्थः ऋषिपुत्र इति। मतस्यास्य सपक्षे पुराणादिशास्त्राणामुल्लेखः प्रमाणमिति। सन्दर्भानुसारं यः ऋषेः पुत्रः सन् ऋषित्वं प्राप्नोति स ऋषिकः उच्यते। ऋषिकशब्दादुत्तरं स्त्रीत्वद्योतकेन टाप्-प्रत्ययेन ऋषिका-शब्दस्य निष्पत्तिर्भवति।

प्राचीनभारतीयसाहित्यस्येतिवृत्ते स्त्रीकवीनां सविशेषं स्थानमासीत्। वैदिकैतिह्ये अनेकासां मन्त्रद्रष्ट्रीणां नामानि लक्ष्यन्ते। शौनकस्य बृहद्देवतायां (2/82-83) सप्तविंशतिसंख्यकानाम् ऋषिकाणां उल्लेखोऽस्तिः—

'घोषा गोधा विश्ववारा अपालोपनिषन्निषत्।
ब्रह्मजाया जहूर्नाम अगस्तस्य स्वसादितिः।।
इन्द्राणी चेन्द्रमाता च सरमा रोमशोर्वशी।
लोपामुद्रा च नद्यश्च यमी नारी च शाश्वती।।'[6]

अस्मिन् ग्रन्थे ताश्च ऋषिकाः ब्रह्मवादिनीनाम्ना अभिधीयन्ते, तासां ब्रह्मवादिनीनां विषये समासेन कानिचित् तथ्यसूत्राणि अत्र दीयन्ते—

1. ऋषिका लोमशा (रोमशा) – (ऋग्वेदस्य प्रथममण्डलस्य 126तमं सूक्तम्, *बृहद्देवता* – 3/156, सर्वानुक्रमणी – 2/1)।
2. ऋषिका अगस्त्यपत्नी लोपामुद्रा – (तत्रैव, प्रथममण्डलस्य 179तमं सूक्तम्, *बृहद्देवता* – 4/57)।
3. ऋषिः अत्रिकन्या अपाला – (तत्रैव, अष्टममण्डलस्य 91/1, *बृहद्देवता* – 6/99)।
4. ऋषिः कक्षिवत्कन्या घोषा (काश्चिवान्), (तत्रैव, दशममण्डलस्य ऊनचत्वारिंशत्-चत्वारिंशत्तमयं सूक्तद्वयम्, ऋग्वेदस्य प्रथममण्डलस्य 117/7, *बृहद्देवता* – 7/42)।
5. ऋषिः अत्रिकन्या विश्ववारा – (तत्रैव, पञ्चममण्डलस्य अष्टविंशतितमं सूक्तम्, ऋग्वेदस्य प्रथममण्डलस्य 126तमं सूक्तम्)।
6. ऋषा सावित्री सूर्या – (*ऋग्वेदः*, दशममण्डलस्य 85तमं सूक्तम्)।
7. ऋषिः अम्भृणकन्या वाक् – (तत्रैव, दशममण्डलस्य 125तमं सूक्तम्)।
8. ऋषिः इन्द्राणी (इन्द्रपत्नी) – (तत्रैव, दशममण्डलस्य 145तमस्य सूक्तस्य प्रथमतः षड् मन्त्राः, ऋग्वेदस्य संवादसूक्तम्, ऋग्वेदस्य पञ्चदशमण्डलस्य 159तमं सूक्तम्)।
9. ऋषिः श्रद्धा (तत्रैव, दशममण्डलस्य 151तमं सूक्तम्)।
10. ऋषिः इन्द्रमाता – (तत्रैव, दशममण्डलस्य 153तमं सूक्तम्)।

11 ऋषिः यमी – (तत्रैव, दशममण्डलस्य दशमसूक्तम्, बृहद्देवता – 6/154)।

12 ऋषिः वसुवक्रजाया – (तत्रैव, दशममण्डलस्य 27-28संख्यकं सूक्तद्वयम्)।

13 ऋषिः उर्वशी – (तत्रैव, दशममण्डलस्य पञ्चनवतितमं सूक्तम्, बृहद्देवता – 7/147-154)।

14.ऋषिका सरमा – (तत्रैव, दशममण्डलस्य अष्टोत्तरैकशततमं सूक्तम्)।

15 शश्वती (शाश्वती) – (तत्रैव, अष्टममण्डलस्य प्रथमसूक्तम्, बृहद्देवता – 6/40)।

16 विश्वमना – (*अथर्ववेदः*, 20/5/28)।

17 सर्पराज्ञी – (तत्रैव, 20/5/11, तथा च ऋग्वेदस्य संवादसूक्तम्)।

18 गोधा – (तत्रैव, 20/5/12)।

अपि च, रात्रिः, गोर्वा, उपनिषद्, निषत्, जुहनाम्नी, ब्रह्मजाया, मेधा, अदितिः, नद्यः, नारी, श्रीः, लक्षणा, दक्षिणा, सावित्री, अगस्त्य-भगिनी चेति ब्रह्मवादिनीनां नामान्यपि उल्लेखार्हाणि।[7]

बृहद्देवतायां प्रोक्तानां सप्तविंशतिसंख्यकानां ब्रह्मवादिनीनां प्रसङ्गे किञ्चिदत्रालोच्यते। ऋषिकायाः वाचो रचनासु अपूर्वविभावनामयं कवित्वं लोकतीर्णभावश्च प्रतिभाष्येते। एतेन वाग्देव्या आत्मगतं परम् आत्मविलोपि भावविवृत्तं विद्धृतं वर्तते। कवयित्र्या स्वात्मनि विश्वम् एकात्मीकृत्य अनुभूतम् आनन्दातिरेकेण। अपि च, अष्टसंख्यकाः नारीकवयः स्वस्वजीवनस्य सुखदुःखमयीमनुभूतिं प्रकाशितवत्यः। प्राचीना ऋषिवंशजा घोषा सर्वशरीरेषु श्वेतकुष्ठाक्रान्ता वयष्कासीदिति कृत्वा विवाहबन्धनेन नावद्धा अश्विनोः अर्चनायां सा घोषा परं स्वस्थ्या विवाहिता च जाता। स्वमनसश्चञ्चलमानन्दं रचनासु अञ्चलीकृतवती सा।

दाम्पत्यजीवनस्य सुखशान्तये अत्रिगोत्रजा कवयित्री विश्ववारा प्रार्थनाम् आदाय समुपस्थिता हुताशनस्य सकाशे। त्वचो रोगेणाक्रान्ता स्वामिना परित्यक्ता अपाला स्वामिसौभाग्यलाभाय इन्द्रस्याराधनाञ्चकार। पुत्रशोकाद् दीर्णा अगस्त्यभगिनी पुत्र-निहन्तारं प्रति क्रोधं प्रकाशयामास। एतासां जीवनस्याभिव्यक्तीनां प्राञ्जलस्तथा सार्थकः प्रकाशो निरवद्यतया कृतः स्वस्वरचनासु। एकदा पुरुषत्ववर्जितः स्वामी राजपुत्रः आसङ्गो मेधातिथेः प्रभावात् पुनः उपभोगक्षमोऽभवदिति कृत्वा पत्नी अङ्गिरः स्वपुत्री शश्वती शाश्वतकालस्य कान्ताकामनापूरणाय स्वानन्दमुल्लसिताभूत्। संयतेन्द्रियम्, भोगवासनाहीनम्, तापसम् अगस्त्यम् स्वयौवनस्य चञ्चलतनुमनसः निविडप्रणयासङ्गेन प्राप्तुम् उत्कण्ठायाः यौवनवत्यः सुदेहिन्याः जायायाः लोपामुद्रायाः कामनामदिरकण्ठेनानुयोगो वाणीरूपतामलभत – दिवस-रजन्योः दीर्घवर्षं यावत् अधीरापेक्षायां सा क्लान्ता श्रान्ता च। प्रतिदिवामुखरूपिणी ऊषा तस्याः लावण्यमयस्य शरीरस्य तनिमां म्लानीकरोति। तस्याः प्रश्नः – सा कति कालान् वा अपेक्षते अगस्त्यं पतिरूपेण प्राप्तुम्। तस्याः प्रेमपुरुषस्तां प्रत्यागच्छ अधुना। पूर्वम् ऋषिवंशे देवाः सत्यपालकाः ऋषय आसन्। तेषां जायाः अपि आसन्। ते तपस्यामपि अकुर्वन् परन्तु अद्य सा कथमुपेक्षिता। अद्य नारी लोपामुद्रा शुष्ककठोरतपःक्लिष्टे अगस्त्यजीवने कामनास्मितं स्वप्नं सञ्चारयितुमुपभोगसज्जायां सज्जिता भवतु।

अल्पवयस्केति कृत्वा स्वामिना अवहेलितायाः रोमशायाः शरीरे प्रथममेव यौवनस्योद्गमः सानन्दं लक्ष्यते। सा रोमशा दयितुः आह्वानेन तस्या भावस्य परिप्रकाशं चकार – तस्याः स्वामी सन्निकटमागत्य पश्यतु यत् सा अधुना न हि बालिका परं नवयौवनस्याविर्भावेन सा अद्य गान्धारीमेष्या उपमारूपा रोमशदेहिनी रोमशा।[8]

शौनकस्य *बृहद्देवतायां* सर्वासाम् ऋषिकाणां नामोल्लेखपूर्वकं तासां वर्गीकरणमपि प्राप्यते। शौनकानुसारम् एताश्च सप्तविंशतिसंख्यकाः ऋषिकाः वर्गत्रयेण विभक्ताः—

नवकःप्रथमस्त्वासां वर्गस्तुष्टाव देवताः।
ऋषिभिर्देवताभिश्च समूदे मध्यमो गणः।।
आत्मनो भाववृत्तानि जगौ वर्गस्तथोत्तमः।
उत्तमस्य तु वर्गस्य य ऋषिः सैव देवता।।[9]

1. याः देवोपासकानां अर्थात् देवतानां स्तुतिम् अकुर्वन्, ता ऋषिकाः कथ्यन्ते।
2. देवर्षिवाचिभिः अर्थात् देवताभिः सह कथोपकथनं कृतवत्यो यास्ताः ऋषिकाः।
3. आत्मस्तुतिका अर्थात् देवता स्वयमेव ऋषिकाभवितुम् अर्हति।[10]

देवोपासकस्य प्रथमवर्गस्य ऋषिकाः खलु—

घोषा,गोधा,विश्ववारा,अपाला,उपनिषद्,निषद्,ब्रह्मजाया,जुहुः,अगस्त्यस्वसा, अदितिः चेति।

देवर्षिवाचिनो द्वितीतवर्गस्य ऋषिकास्तावत्—

इन्द्राणी,इन्द्रमाता,सरमा,रोमशा,उर्वशी,लोपामुद्रा,नद्यः,शाश्वती,यमी चेति।

तृतीयवर्गीयाः आत्मस्तवकाः ऋषिकाः हि—

लाक्षा, वाक्,श्रीः,सार्पराज्ञी,मेधा,श्रद्धा,दक्षिणा,सूर्या,सावित्री,रात्री चेति।

वैदिकाः ऋषिकाः स्वप्रतिभयालंकार-रसादिभिः सौन्दर्यपरकैरुपादानैर्मन्त्रान् द्रष्टवत्यः। तेषु मन्त्रेषु यथा वर्तते काव्यिकं सौन्दर्यं तथैव शास्त्रीयाः वेदसम्बन्धा विषयाः। प्राचीनानाम् ऋषिकाणां काव्यप्रतिभा विलक्षणासीदिति निश्चप्रचं शक्यवचम्। अपि च, तदानीं नारीणां शिक्षाचेतना विद्वद्वत्ता चास्तामित्यपि अनुमातुं शक्यते। पुरुषर्षिभिः सह ऋषिकाणां मन्त्रेषु किञ्चिद्वैलक्षण्यम् अस्मन्नयनयोः आपतति। ऋषिभिर्दृष्टेषु मन्त्रेषु आध्यात्मिकातायाः दार्शनिकचेतनायाश्च प्राधान्यमधिकम् परम् ऋषिकाभिर्दृष्टमन्त्रेषु व्यक्तिगतं गार्हस्थजीवनं, व्यक्तिसम्पर्कः तथा च स्वामि-स्त्रियोर्देहजः सम्पर्कः अधिकतया स्फुटं काशन्ते। ऋषिकायाः वाचः नामानुसारम् वाक्सूक्तम् ऋषिकाभिर्विरचितेष्वन्यसूक्तेषु किञ्चिद्भिन्नमार्गावगाहि इत्यत्र नास्ति संशयः इति शिवम्।।

तथ्यसूत्राणि

1. *ब्रह्मसूत्रम्*, 1.1.3
2. *ऋग्वेदः*, 8.1
3. तत्रैव, 10.60

4. तत्रैव, 10.107

5. तत्रैव, 10.125

6. *बृहद्देवता*, 2.82-83

7. *वैदिकसाहित्यसंस्कृतिररूपरेखा* – डॉ. गोपेन्दु-मुखोपाध्यायः, (पृ.- 113-114)

8. *संस्कृतसाहित्येररूपलोक,* रामजीवन-आचार्यः, पृष्ठा – 200, प्रथमसंस्करणम्.

9. *बृहद्देवता*, 2.85-86 (पृ. 55)

10. आत्मानमस्तौव्यर्गस्तुदेवतांयस्तथोत्तमः।
तस्मादात्मस्तवेषुस्याद् य ऋषिःसैवदेवता।। *बृहद्देवता*, 2.87

डाँ. मिठु-विश्वासः,
विभागीयप्रधान, संस्कृतविभागः,
वालुरघाट-महाविद्यालयः, वालुरघाटः,
दक्षिणदिनाजपुरम्, 733101.
डाँ. शुभ्रजित् सेनः,
सहायकाध्यापकः. संस्कृतसंकायः,
गौडवङ्गविश्वविद्यालयः,
मालदा, 732101, 8100232021

गीतायां ज्ञानयोगस्तथा चाधुनिकपरिप्रेक्षे गीतानुसारि मनुष्यजीवनम्

डॉ. लोकेश-मण्डलः

महाभारतयुद्धस्य आरम्भात् पूर्वमेव श्रीकृष्णेन अर्जुनाय प्रदत्तं प्रवचनं श्रीमद्भगवद्गीतानाम्ना प्रसिद्धिं गतमस्ति। अयमंशस्तावन्महाभारतस्य भीष्मपर्वणो भागः। गीतायाम् अष्टादश अध्यायाः 700 श्लोकाः च सन्ति। गीता प्रस्थानत्रयमध्ये गण्यते, यस्मिन् उपनिषद्-ब्रह्मसूत्राण्यपि अन्तर्भवन्ति। अतः भारतीयपरम्परानुसारं गीतास्थानम् उपनिषद्धर्मसूत्राणां समानं भवति। उपनिषद् गोः इत्युच्यते गीता च तस्याः क्षीरम्। उपनिषदाम् आध्यात्मिकं ज्ञानं गीता सम्पूर्णतया स्वीकरोति इत्यर्थः। उपनिषदां बहव उपदेशाः गीतायां वर्तन्ते। यथा- अश्वत्था विद्या, जगत्स्वभावविषयकं ज्ञानम्, अव्ययपुरुषविद्या, शाश्वताजन्मब्रह्म, अक्षरपुरुषविद्या, पराकृतिविषयो वा जीवविषयः तथा अपरा प्रकृतिः, क्षरपुरुषविद्या वा भौतिकजगत्, क्षरपुरुषविद्या चेति। एवं वेदब्रह्मवादस्य उपनिषदः च अध्यात्मस्य च विशिष्टा सामग्री गीतायां वर्तते। इति पुष्पिकस्य वचने ब्रह्मविद्या उच्यते - **श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे** इत्यादि।महाभारतयुद्धकाले यदा अर्जुनः युद्धं कर्तुं अस्वीकरोति, तदा भगवान् श्रीकृष्णः तस्मै उपदेशं कृत्वा कर्मधर्मयोः यथार्थज्ञानस्य विषये अवगतं करोति। श्रीकृष्णस्य एताः शिक्षाः श्रीमद्भगवद्गीता इति पुस्तके संगृहीताः सन्ति।

महाभारतस्य भीष्मपर्वान्तर्गता श्रीमद्भगवद्गीता कालक्रमेण स्वतन्त्रग्रन्थस्य मर्यादां लेभे। गीता भारतीयधर्मसाधनाया अध्यात्मभावनायाश्च इतिहासे श्रेष्ठग्रन्थरूपेण अविसंवादिप्रतिष्ठाम् अर्जयामास। ग्रन्थकर्तुर्मते, अस्य प्रकृतं नाम भगवद्गीतेति। ब्रह्मविद्या योगशास्त्रञ्च अस्याः गीतायाः मुख्यं प्रतिपाद्यम्। किन्तु प्राचीनटीकाकाराः शङ्कराचार्य-श्रीधरस्वामि-रामानुजप्रभृतयः गीतानाम्ना एव अस्य ग्रन्थस्य उल्लेखं कृतवन्तः। प्रचलितैतिह्यानुसारं गीता महाभारतस्य अंशभूतेति कृत्वा वेदव्यास एव अस्य ग्रन्थस्य रचयितेति। मार्कण्डेयपुराणानुसारं गीताया अपरं नाम सप्तशतीति। अर्थात् चण्डीवत् गीतायामपि श्लोकसंख्या सप्तशतमिति। आधुनिककाले प्राच्य-प्रतीच्य-विद्वांसः सामग्रिकदृष्टिभङ्ग्या अस्य ग्रन्थस्य विषये विस्तृतम् आलोचितवन्तः।

गीता सर्वशास्त्रमयी अपूर्वरहस्यमयी च। गीतायाः मर्मार्थं वैदेशिकाः पण्डिताः उपलब्धुं न पारयन्ति। यतः गीता सर्वतःप्रसारिणी स्वतःपूर्णा चेति। गीता सर्वदा अस्मभ्यं ज्ञानमेव ददाति। कस्मादपि ग्रन्थाद्गीता किमपि धर्मतत्त्वं न अधिगृहीतवती। किन्तु प्राचीनभारतीयधर्ममतेन दार्शनिकतत्त्वेन च सह साधारणरूपेण परिचिते न सति गीतातत्त्वं सम्यक्तया उपलब्धु न शक्यते। हिन्दुधर्मस्तावद्वेदमूलकः। वेदः सनातनो नित्यश्च। तस्मादेव अस्य ग्रन्थस्य प्रकृतं नाम वैदिकधर्मः सनातनधर्मो वेति। वेदार्थान् विविधरूपेण ऋषयः व्याख्यातवन्तः। फलतः

वैदिकधर्मे साध्यसाधनाविषये नानामतानि शास्त्राणि च प्रादुर्बभूवुः। गीतायां यथा-सांख्यवेदान्तादिदार्शनिकमतानि समावेशितानि तथैव कर्म-योग-ज्ञान-प्रतीकोपासनादिविविधा आपातविरोधिनः साधनमार्गाः उल्लिखितास्सन्ति। तस्मादेव कारणात् वाह्यदृष्ट्या गीतायाः विविधा प्रसङ्गा केचित् असङ्गतास्तथा च मिथः विरोधिनः चेति प्रतीयन्ते। वस्तुतः गीता रङ्गमयी। ग्रन्थस्यास्य रहस्यभेदं कर्तुमर्जुनो विव्रतः अभूत्। तथाहि स भगवन्तम् उक्तवान् – **व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।**

अस्माकं संस्कारान्धदृष्टिः अङ्गविशेष एवाबद्धा भवति। ज्ञानचक्षुः विना समस्तं तत्त्वं हृदयगतं न भवति। ज्ञानलाभो भवति परमेश्वरस्य कृपासापेक्षेण। गीता कस्यापि सम्प्रदायविशेषस्य न हि धर्मग्रन्थः। परमयं मानवीयधर्मग्रन्थः। गीतायां वर्णिता सार्वभौमधर्मोपदेशा जाति-धर्म-वर्णनिर्विशेषेण सर्वैः न गृह्यन्ते। भगवतः श्रीकृष्णस्य मुखनिःसृता वाणी हि श्रीमद्भगवद्गीता कश्चन दार्शनिको ग्रन्थः। अर्जुनमुद्दिश्य श्रीकृष्णस्य उपदेशः प्रतीकमात्रमेव केवलम्। समस्तविश्वब्रह्माण्डगतयोः जीवजगतोः प्रतिनिधिस्वरूपः तावत् अर्जुनः। कुरुक्षेत्रस्य रणाङ्गनं यथा समस्तजगत्संसारस्य प्रतिरूपम्। श्रीकृष्णः यथा समस्तं विश्ववासिनं विवोधयितुमिच्छति यत् कथंकारं कर्मयुद्धमाध्यमेन हृदये ज्ञानस्य स्फुरणं सञ्जायते। ज्ञानेन जीवनं सुपरिचालितं भवति चेत् प्रत्येकं मनुष्यस्य जीवनम् अन्धकारात् आलोकमयं भवति।

भगवद्गीताया अपरं नाम गीतोपनिषदेति। अयं ग्रन्थः वैदिकदर्शनस्य निर्यासः। भगवद्गीतायाः वक्ता खलु भगवान् स्वयं श्रीकृष्णः। तस्यैव निर्देशानुसारम् अस्माभिः गीतायाः मूलभावः ग्रहणीयः। गीतायाः चतुर्थाध्याये भगवान् उक्तवान्-

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप।।
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सख्या चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।। *(गीता, 4.1-3)*

अर्थात् तत्र भगवान् अर्जुनं प्रति आह—

इमम् अध्यायद्वयेनोक्तं योगं विवस्वते आदित्याय सर्गादौ प्रोक्तवान् अहं जगत्परिपालयितृणां क्षत्रियाणां बलाधानाय तेन योगबलेन युक्ताः समर्था भवन्ति ब्रह्म परिरक्षितुम्। ब्रह्मक्षत्रे परिपालिते जगत् परिपालयितुमलम्। अव्ययम् अव्ययफलत्वात्। न ह्यस्य योगस्य सम्यग्दर्शननिष्ठालक्षणस्य मोक्षाख्यं फलं व्येति। स च विवस्वान् मनवे प्राह। मनुः इक्ष्वाकवे स्वपुत्राय आदिराजाय अब्रवीदिति भाष्यवचनम्।

गीतायाः सप्तमाध्यायस्यारम्भो भगवतः शक्तिनां भौतिक-आध्यात्मिक-परिमाणानां वर्णनेन भवति। श्रीकृष्णः कथयति यत् एते सर्वे तस्मात् प्रकटिताः, तस्मिन् निवसन्ति यथा सूत्रे तारितो मणिः। स सर्वसृष्टेः

स्रोतः अस्ति, सर्वं तस्मिन् विलीयते पुनः। तस्य स्वाभाविकी शक्तिः माया अत्यन्तं दुर्जयास्ति, परन्तु ये भगवते समर्पणं कुर्वन्ति ते तस्य प्रसादं प्राप्य तत् सहजतया जयन्ति। ततः परं श्रीकृष्णः चतुर्विधान् जनान् वर्णयति, ये तस्मै न समर्पयन्ति, चतुर्विधाः जनाः च तस्य भक्तिनिमग्नाः तिष्ठन्ति। स भक्तानाम् अत्यन्तं प्रियः, ये तस्य मनः बुद्धिं च तस्मिन् विलीय ज्ञाने प्रतिष्ठिता सन्तस्तम् आराधयन्ति। केचन जनाः येषां प्रज्ञा लौकिककामनाभिभूता भवति, ते आकाशदेवमाश्रिताः भवन्ति, परन्तु एते आकाशदेवाः क्षणिकभोगान् एव प्रदातुं शक्नुवन्ति, ते च भगवतः शक्तिं प्राप्य एव एतान् क्षणिकसुखान् प्रदातुं शक्नुवन्ति। एवं समुचितं भक्तिविषयं स्वयं ईश्वरः। श्रीकृष्णः परमं सत्यं च अन्तिमगन्तव्यो वा सिद्धिर्वेति। स च सर्वज्ञः सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान् इत्यादिभिः नित्यदिव्यगुणैः युक्तः। यतो हि तस्य सत्यरूपं तस्य दिव्ययोगमयशक्त्या आच्छादितं तिष्ठति अतः तस्य अविनाशि दिव्यरूपं सर्वेषां न ज्ञायते। यदि वयं तस्मै समर्पणं कुर्मः, तर्हि सः अस्मान् ज्ञातुं स्वस्य दिव्यं ज्ञानं ददाति तथा च तं ज्ञात्वा वयं आत्मज्ञानक्षेत्रस्य कर्मक्रियायाः च ज्ञानमपि प्राप्नुमः।

अयं ज्ञानप्रवाहो धारावाहिकरूपेणगुरोः शिष्यान् यावत् प्रवहति किन्तु इयं परम्परा काचित् छिन्ना भवति चेदस्य ज्ञानस्य प्रवाहो रूद्धो भवति। तथाहि भगवान् कुरुक्षेत्रं स्वयं आगत्य अर्जुनाय ज्ञानमिदम् उपदिदेश।

गीतायाश्चतुर्थे अध्याये श्रीकृष्णः अर्जुनाय प्रदत्तस्य दिव्यज्ञानस्य प्राचीनोत्पत्तिं प्रकाशयति।तेन तस्य तस्मिन् विश्वासः सुदृढो भवति। स कथयति यत् एतदेव शाश्वतं ज्ञानं यत् स प्रारम्भे सूर्यदेवं प्रति उपदेशं कृतवान् आसीत्, ततः पारम्परिकपद्धत्या एतज्ज्ञानं निरन्तरं राजानः समीपं प्राप्तवान्। इदानीं स स्वप्रियमित्राय महाभक्ताय अर्जुनाय इदं दिव्यं ज्ञानं प्रकाशयति। तदा अर्जुनः पृच्छति यत् सम्प्रति तस्य पुरतः स्थितः श्रीकृष्णः युगपूर्वं सूर्यदेवाय एतज्ज्ञानं कथं प्रदातुं शक्नोति स्म? अस्य प्रतिक्रियारूपेण श्रीकृष्णः स्वस्य अवतारणानां रहस्यं प्रकाशयति। ते व्याख्यायन्ते यत् भगवान् अजन्नित्यः तथापि स धर्मस्थापनार्थं स्वयोगमयशक्त्या पृथिव्यां प्रादुर्भवति किन्तु तस्य जन्म कर्म च दिव्यम् अस्ति तथा च स भौतिकविकारैः दूषणं कर्तुं न शक्नोति। ये गुह्यमिदं जानन्ति ते तस्य भक्तौ निमग्नाः तिष्ठन्ति, तं प्राप्य पुनः कदापि लोके न जायन्ते।

अनन्तरम् अस्मिन् अध्याये कर्मस्वरूपं व्याख्यातं, कर्म-अकर्म-निषिद्धकर्म-सम्बद्धं सिद्धान्तत्रयं चेति विषये चर्चा कृता। अस्मात् स्पष्टं भवति यत् कर्मयोगिनः विविधान् लौकिकदायित्वं कुर्वन्तः अकर्मावस्थां प्राप्नुवन्ति अतः ते कर्मप्रतिक्रियासु न व्यापृता भवन्ति।

अनेन ज्ञानेन पुरा ऋषयः सन्ताः च केवलं ईश्वरस्य सुखाय यज्ञत्वेन स्वकर्माणि कुर्वन्ति स्मसफलतायाः, असफलतायाः, सुख-दुःखयोः प्रभावं विना। यज्ञस्य अनेके प्रकाराः सन्ति, एतेषां यज्ञानां बहवः अत्र उल्लिखिताः सन्ति। यज्ञं समर्पणभावेन क्रियमाणे तस्यावशेषाः अमृतवत् भवन्ति। तादृशामृतपानेन साधकान्तर्गतमलं निवर्तते। अतः पूर्णभक्त्या ज्ञानेन च यज्ञः कर्तव्यः। ज्ञाननौकायाः साहाय्येन महान् पापी अपि लोकदुःखसागरं सहजतया लङ्घयितुं शक्नोति। एतादृशं दिव्यं ज्ञानं परमसत्यस्य साक्षात्कारं कृत्वा सच्चिदानन्दगुरुतः अवश्यं प्राप्तव्यम्। गुरुत्वेन भगवान् श्रीकृष्णः अर्जुनं ज्ञानस्य खड्गेन हृदये उत्पद्यमानान् संशयान् दूरीकर्तुं याचते, उत्थाय युद्धकर्तव्यं निर्वहितुं च याचते।

स पुनः अर्जुनमाह – त्वं मे भक्तः सखा च। तस्मात् रहस्यावृतं परमज्ञानम् अहं तस्मै ददामि इति। अस्य वक्तव्यस्य तात्पर्यमेतत् यत् भगवतो भक्त एव गीतायाः ज्ञानम् आहर्तुं पारयति। ज्ञानि-योगि-भक्तभेदात् अध्यात्मवादिनः त्रिधा विभज्यन्ते। अत्र भगवान् स्पष्टरूपेण आह – पूर्वपरम्परायाः ध्वंसकारणात् पुनः एव पुरातनयोगस्य प्रचारं कृतवान् सः। अर्जुनः तस्मात् प्राप्तं ज्ञानं सम्यक्तया अनुभूय उपलभ्य च तस्य प्रचारं करिष्यतीति कृष्णस्य विश्वासः आसीत्। श्रीकृष्णः अर्जुनमध्ये भगवतो माहात्मप्रचारस्य सर्वान् गुणान् उपलब्धवान्। तस्मात् अर्जुणस्य गुणैः गुणान्विता मानवाः गीतायाः महत्त्वं सम्यक्तया उपलब्धुं पारयन्ति। भक्तैः सह भगवतः अयं मधुरसम्पर्कः जायते चेत् तदा भक्तिमाहात्मेन भगवतस्वरूपम् उपलभ्यते।

अर्जुनेन सह भगवतः सम्पर्कः आसीत् सख्यः। श्रीकृष्णेण सह अर्जुनस्य इयं वन्धुत्वप्रीतिः प्रार्थिवजगतः वन्धुत्वप्रीतितः भिद्यते। पार्थिवजगतः अयं सम्पर्कः भवति अप्राकृतः। जडजगतः अभिज्ञतामाध्यमेन अयं सम्पर्कः न विचारितो भवति। किन्तु भगवता सह भक्तस्य सम्पर्कः प्रकाशितो भवति भक्तियोगस्य पूर्णतामाध्यमेन। परन्तु वर्तमानावस्थायाम् अस्माभिः केवलं भगवानेव न विस्मृतः अपि च विस्मृतः तेन सह अस्माकं चिरन्तनसम्पर्कः। अस्मासु एव भगवान् राजते। प्रतिजीवम् एव भगवता सह शाश्वतसम्पर्कः विद्यते।

भगवद्गीताया उद्देश्यं तावत् अज्ञानतायाः अन्धकाराच्छन्नस्यास्य जडजगतो बन्धनात् मनुष्याणाम् उद्धारः। प्रत्येकं मनुष्य एव विविधरूपेन दुःखेन कष्टम् अनुभवति। यथा, कुरुक्षेत्रयुद्धस्य समये अर्जुनः एकस्याः महत्याः समस्यायाः सम्मुखिनमभूत्। तदा स भगवतः समीपे आत्मसमर्पणे कृते भगवान् तस्मै गीतायाः तत्त्वज्ञानं प्रदाय मोहान्मुञ्चति। अस्मिन् जडे जगति न केवलम् अर्जुनः, वयं सर्व एव उद्वेग-उत्कण्ठाभ्यां जर्जरिताः स्मः। अस्य जडजगतः अनित्यपरिवेशे अस्माकं यदस्तित्वं तदस्तित्वहीनवत्। इयम् अनित्यता अस्मान् भीतिं प्रदर्शयति किन्तु अत्र भयस्य नास्ति किमपि कारणम्। अस्माकम् अस्तित्वं खलु नित्यं किन्तु कस्मादपि कारणात् वयम् असत्सत्तायाम् आवद्धा भवामः। अस्य अनित्यस्यास्तित्वस्य कारणात् वयं मनुष्याः प्रतिनियतं दुःखं प्राप्नुमः। किन्तु वयं मोहाच्छन्ना इति कृत्वा वयं दुःखविषये न्यूनमपि वयं नावगताः स्मः।

भगवान् श्रीकृष्णः मानवजीवनस्य प्रकृतोद्देश्यं प्रदर्शयितुम् अस्यां पृथिव्याम् अवतरति स्म। तथापि सहस्रं तत्त्वानुसन्धिमनुष्येषु कश्चन भाग्यवान् केवलं भगवतः तत्त्वं पूर्णरूपेण उपलब्धुं स्वस्य प्रकृतस्वरूपविषये अवगतः भवति। एतादृशाय मनुष्याय एव भगवान् भगवद्गीतां श्रावितवान्।

भगवद्गीतायाः मर्मार्थप्रदानस्य मूलमूद्देश्यं तावत् जीवेषु ज्ञानाभ्युदयः। ज्ञानशब्देनात्र विवेकज्ञानमवबुध्यते। ज्ञानेनैव मोहस्य विनाशो भवति। प्रकृतज्ञानोदये सति फलाशक्तिवर्जनपुरःसरं निष्कामकर्मणः सम्पादनं सम्भवति—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।। ***(गीता,4.38)***

अधर्मस्य विनाशपूर्वकं न्यायधर्मस्थापनेन पापिनां विनाशस्तथा पुण्यवतः सुरक्षा च निश्चितौ भवतः। ज्ञानतापसाः सर्वतोभावेन ऐश्वरिकं कर्म सम्पादयन्ति। विश्वहिताय नियोजितं सर्वविधं कर्मैव ईश्वरकर्म –

ये यथा माँ प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ *(गीता, 4.11)*

कर्मयोगनाम्ना अयं चाध्यायः अभिधीयते। अस्मिन्नध्याये प्राधान्येन कर्मणः विषये चर्चितं वर्तते। भारतीयविचारानुसारेण आत्मोन्नतिं साधयितुं चत्वारो मार्गाः उपदिष्टाः सन्ति–ज्ञानमार्गः, भक्तिमार्गः, कर्ममार्गः, योगमार्गश्चेति। स्वनामधन्यैः महर्षिभिः अत्यन्तसरलरीत्या एतेषां चतुर्णां मार्गाणां विवेचनं कृतम्। उभयोर्मार्गयोः कर्मयोगेनैव सिद्धिलाभस्तरान्वितो भवति।

गीतोक्ता कथा यथा रहस्यमयी तथैव मनुष्यजीवनमपि। अस्मज्जीवनं सुख–दुःखानुभूतिभिराश्लिष्टम्। मनुष्यजीवनेन समं शब्दद्वयं प्रतिपदमेव अन्वितम् – ज्ञानं कर्म चेति। ज्ञानं खलु असतः सत्पथस्य अन्धकारात् आलोकस्य च वर्तिकारूपम्, तथैव कर्म खलु ज्ञानस्य मानदण्डप्रतिरूपमेव।

कर्मतत्त्वमतीव दुर्विज्ञेयम्। भगवान् तत्त्वमिदम् अस्मिन् अध्याये विवृतं विस्तरशः। कर्म–अकर्म–विकर्मणां प्रकृतिं विज्ञाय विकर्मणः परित्यागपुरःसरं कर्मणि अकर्म अकर्मणि च कर्म यः जानाति, स एव प्रकृतविचक्षणः। तथाहि गीतं गीतायाम् –

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ *(गीता, 4.16)*

वासनापरित्यागपूर्वकं जितेन्द्रियसाधकः शरीरधारणाय यत्कर्म सम्पादयति, तं किमपि पापं न स्पृशति –

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ *(गीता,4.21)*

गीतायाः पूर्वं मीमांसाशास्त्रे कर्मणो महत्त्वं स्वीकृतम् आसीत्। जैमिनिना तु वेदस्य प्रयोजनमेव कर्मणः प्रतिपादनमिति कथितम्। तत्र कर्मणः अभिप्रायः यज्ञेन प्रतिपादितः। गीतायामपि यज्ञशब्दस्य प्रयोगो विस्तृतार्थे विहितः। निःस्वार्थबुद्ध्या क्रियमाणं परमात्मानं प्रति निखिलं कर्मजातं यज्ञमेवास्ति। यज्ञास्तु अनेकधा प्रतिपादिताः।यथा– द्रव्ययज्ञः, तपोयज्ञः, ज्ञानयज्ञश्चेति। श्रीमद्भगवद्गीतायाः अवधारणाऽस्ति यत् फलाकांक्षाया दृष्टिकोणेन अक्रियमाणानि कर्माणि कदापि बन्धनं नोत्पादयन्ति किन्तु कर्मचक्रान्न कश्चिदपि प्राणी पलायनं कर्त्तुं शक्नोति। यतो हि प्राणिनां जीवनयात्राया मुख्याधारभूतं कर्म एवास्ति। क्षणमपि कश्चिदपि प्राणी कर्म न कुर्वन् नैव तिष्ठति। सत्त्वादिगुणत्रयस्य प्रभावात् प्राणी सदैव कर्म कुर्वाणो विद्यते।

लौकिककर्मसु वासनाख्यो दोषो भवति। अनेनैव दोषेण कर्त्ता बन्धने निपतति, कर्मणा बद्धो भवति च। फलाकांक्षाया अथवा आसक्तिरूपिण्या वासनाया एव अपरं स्वरूपम् अस्ति। यथा कामनया इच्छया वा कर्म

क्रियते, तस्य कर्मणः फलन्तु अवश्यमेव भोक्तव्यं भवति। यद्यपि तत्फलभोगात् प्राणी पृथङ् न भवितुं शक्नोति, तथापि फलस्य बन्धनात् अवश्यं मुक्तिं लब्धुं शक्तोति। कर्मणा तस्य भोगो भवति। कर्मयोगस्य सार्थकताऽपि अस्मिन्नेवास्ति। अतएवोक्तम्- योगः कर्मसु कौशलम् इति।

कर्मयोगे प्रवृत्त्यर्थं त्रिविधस्याचरणस्य उपयोगिता श्रीमद्भगवद्गीतायां सम्प्रोक्ता।तत त्रिविधमाचरणमत्रोल्लेखनीयमस्ति-

1. फलाकाङ्क्षां वर्जयेत्
2. कर्त्तृत्वे अहंकारं परित्यजेत्
3. स्वक्रियमाणं कर्मजातम् ईश्वराय अर्पयेत् चेति।

श्रीमद्भगवद्गीतायास्तु उपदेशोऽस्ति यत् प्राणिनां कर्मकरणे एवाधिकारो वर्तते, कर्मफलस्योपभोगे तेषामधिकारो नास्ति—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भुर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।। *(गीता, 2.47)*

भगवतः श्रीकृष्णस्येदं कथनं कर्मयोगस्य चतुस्सूत्री अस्ति। अत्र कर्मणां परित्यागस्य शिक्षा नैव प्रदत्ता अपितु कर्मफलस्य परित्यागविषये स्वोपदेशा विहिताः। कर्मफलस्य परित्यागोऽपि संन्यास इति नाम्ना विज्ञायते। गीतोक्तः कर्मपरित्यागः संन्यासो नास्ति—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।। *(गीता, 18.2)*

कर्मफलविषये चत्वारःसिद्धान्ताः प्रतिपादिताः सन्ति (1) प्रमादवशात् फलेच्छाया अभावः अथवा कर्मप्रवृत्तेरभावः (2) फलाकाङ्क्षया तदुचितकर्मणां निष्पादनम् (अयमेव गीतायामुक्तो निष्कामकर्ममार्गोऽस्ति)।

ज्ञानयोगःयोगस्य विविधासु शाखासु अन्यतमस्तावत् ज्ञानयोगः। युज्-धातुतः आगतस्य योगशब्दस्य कश्चन अर्थः अस्ति - चित्तैकाग्रता इति। योगस्य इदं मुखं राजयोगस्य विषयवस्तु। उभयोः वस्तुनोः संयोगः इति अन्यार्थः। जीवात्म-परमात्मनोः संयोगः प्रकृतः विषयः। इदं मुखंवेदान्तदर्शनस्यविषयवस्तु। कश्चन जनः यत् प्राप्तुम् इच्छति तत् प्राप्तुं (तेन सह संयोक्तुम् एकीभवितुम्) ये मार्गाः अनुश्रियन्ते, ते योगाः इति निर्दिश्यन्ते।पुरुषार्थाःचत्वारः। एतेषु प्रमुखःअस्तिमोक्षोमुक्तिर्वेति। अस्य प्राप्तिमार्गाः एव योगाः। तेषु अन्यतमः अस्ति ज्ञानयोगः।

आहार-निद्रा-भय-मैथुनानि सर्वेषु प्राणिषु यथा तथा मनुष्यप्राणावपि विद्यन्ते। मानवस्य वैशिष्ट्यं नाम तस्य ज्ञानम्। इदं ज्ञानं द्विविधम्- प्रपञ्चज्ञानम् आत्मज्ञानञ्चेति। बाह्यप्रपञ्चज्ञानम् इन्द्रियं मनः बुद्धिः चेत्येतेषां व्यापारेण ज्ञायते। केषाञ्चन प्राणिनाम् इन्द्रियशक्तिः अधिका स्यात्। किन्तु मनः बुद्धिश्च मानवविशेषः। मानवः स्वस्य विशेषबुद्धिशक्त्या प्रकृत्याः सूक्ष्मानुसन्धानं कृतवान् अस्ति। बहिः अदृश्यमानानि निगूढसत्यानि वैज्ञानिकप्रयोगद्वारा मानवः आविष्कृतवान् अस्ति। अस्य विज्ञानस्य आधारेण प्राकृतिकशक्तीः वशीकृत्य

भोगसाधनानि यन्त्रोपकरणानि आविष्कृतवान् अस्ति। अस्य फलरूपेण मानवजीवनस्य भौतिकस्तरः नितरां परिष्कृतः अस्ति। अस्याः प्रगतेः अन्त्यं न विद्यते।

दृश्यमानं रूपं जडं परिच्छिन्नं नाशवत् च वर्तते। किंतु परमात्मा तु अनन्तः चैतन्यस्वरूपः अविनाशीच विद्यते। अतः कस्मिन्नपि रूपे ईश्वरस्य दर्शनं भवति इति भ्रममूलां धारणां परित्यज्य आत्मस्वरूपे एव ईश्वरदर्शनं साधयितव्यम्। अपि च, अनात्मोपाधीन् त्यक्त्वा अहं शुद्धः सच्चित्स्वरूपः अस्मि इत्यनया ज्ञानवृत्त्या स्वरूपे संस्थितिः एव आत्मदर्शनम्।

कश्चन धनिकः स्वप्ने अहं दरिद्रः अपरिमितानि दुःखानि सहमानः तिष्ठामि इति अपश्यत्। यदा स जागरितो भवति, तदा अवगच्छति यन्नाहं दरिद्रः अपि तु धनवान्। स्वप्ने दृष्टः दरिद्र एवं जागरितावस्थायां तिष्ठन् धनिकः अभिन्न एक एव इत्येवंविधेन ज्ञानेन यदा जीवभावस्य नाशः भवति, तदा मनुष्यः आत्मस्वरूपं जानाति। इयं स्वस्वरूपे संस्थितिः एव आत्मदर्शनम्।यदि अहं दुःखस्वरूपः, तर्हि मम दुःखम् असह्यं कथं भवितुम् अर्हति। एतत्तु अनुभवविरुद्धं वर्तते। एतावता एतत् सिध्यति, यन्नाहं दुःखस्वरूपः अपि तु सुखस्वरूपः इति।

अहं सदा सुखी स्याम्। दुःखस्य लेशः अपि मम जीवने न स्यात् इत्येषः मानवस्य मूलभूतः आशयः। मानवस्य सर्वेषां प्रयत्नानां मूलप्रेरणास्रोतः इदमेव। दार्शनिकाः योगिनश्च अस्मिन् विषये गभीरं चिन्तनं कृत्वा अवगतवन्तः यत् वैज्ञानिकप्रगत्या बाह्यसम्पत्तेः बाहुल्यं यथा सिद्ध्यति तथा नैजसुखं ततः न वर्धते इति। रोगः वार्धक्यं मरणञ्च मानवजीवनस्य दुःखमूलानि। जननदुःखमपि विद्यते। वैज्ञानिकसंशोधनैः एतेषाम् आत्यन्तिकं निर्मूलनम् असाध्यम्। अस्माकं जीवनं दुःखस्य पञ्जरे निहितमिव विद्यते। अतः बाह्यजगति अन्वेषणं क्रमशः न्यूनीकृत्य सर्वेषाम् अनुभवानां मूलकर्त्रोः अहम् इत्येतस्य अवगमनादेवाव सुखस्य प्राप्तिः इत्येष दर्शनशास्त्राणां निश्चितः अभिप्रायः। अहं कः इत्येतस्य विषये अस्माकं ज्ञानं न विद्यते। न केवलं तावत्, तस्मिन् विषये अज्ञानं. संशयः. विपर्ययश्चेति विद्यन्ते। एतेभ्यो मुक्तिं सम्पाद्य यथार्थज्ञानसम्पादनमेव सुखप्राप्तेर्मार्ग इति घोषयन्ति शास्त्रकृतः। अयं मार्गः एव **ज्ञानयोगः**।

ज्ञानयोगस्य अनुष्ठानाय पूर्वभाविरूपेण मानसिकार्हताः याः भवेयुः,ताः अधिकारः इति उच्यते। प्रमुखानां षड्गुणानां समुदायः अधिकारसम्पदिति उच्यते। ते गुणास्तावत् –

(क). दमः

इन्द्रियाणि सदा विषयाणां पृष्ठतः धावन्ति। इयं धावनप्रवृत्तिः इच्छापूर्वकं दमनीया। ये विषयभोगे एव निरताः भवन्ति, ते ज्ञानयोगस्य अधिकारिणो न भवन्ति।

(ख). शमः

इन्द्रियाणां निग्रहणादनन्तरमपि अन्तरेन्द्रियं मनः तेषु विषयेषु एव चिन्तयत् सङ्कल्पान् कुर्वद्भवति कदाचित्। अस्याः स्थितेः निवारणं मनसः उपशमनमेव शमः। दम-शमयोः संयोगेनैवाधिकारः प्राप्यते।

(ग). उपरतिः

शमदमाभ्यां शिक्षितं चित्तं स्वाभाविकतया बाह्यव्यापारान्मुक्तिं कामयतेयत्सैव उपरतिः।

(घ). तितिक्षा

तितिक्षा नाम सहनम्। प्रत्येकस्य मानवस्य जीवने अपि सुखदुःखे लाभनष्टौ मानापमानौ जयापजयौ च अवश्यं भवन्ति एव। ते संसारसागरस्य तरङ्गाः। समचित्तेन तेषां सहनमेव तितिक्षा।

(ङ). समाधानम्

वस्तुनः यथास्तीतिज्ञानमेव समाधानम् इति उच्यते। पूर्वाग्रहेण विना तटस्थभावेन अवलोकनस्य अभ्यासः कर्तव्यः।

(च). मुमुक्षुत्वम्

मुक्तिं प्राप्तुम् इच्छा। अन्याभिः इच्छाभिः सह इयमपि विद्यते चेन्न किमपि प्रयोजनम्। जले निमग्नः कश्चित् श्वासोच्छ्वासाय यथा त्वरते, तथा उत्कटेच्छा स्यात् मुक्तिप्राप्तौ।

किं वस्तु नित्यं किञ्च अनित्यम् इत्येष विवेकस्तीक्ष्णबुद्ध्या प्राप्तव्यः। कर्माणि उत्तमानि चेदपि तेषां फलं न नित्यम्। आत्मज्ञानादेव शाश्वतफलप्राप्तिः इत्येतस्य अवगमनमेव विवेकः। सत्कर्मकारणात् अस्मिन् जन्मनि अन्यलोकेषु च प्राप्यमाणानां भोगानांविषये अपेक्षा न स्यात्। अपेक्षा यदि स्यात्, तर्हि तादृशेषु कर्मसु एव आसक्तः भवेत्। ततः ज्ञानयोगस्य अधिकारी न भवेत्। कुलं, जातिः, मतं, लिङ्गं, वृत्तिः, देशःचेत्यादयः अंशाः अस्य अधिकारस्य प्राप्तेः हेतवो न भवन्ति। अधिकारसस्पद्युक्तः यः कः अपि जनः इदं प्राप्तुम् अर्हति।अस्य प्राप्त्यर्थं पूर्वजन्मसु पुण्यकर्माणि आचरितव्यानि। पापेभ्यो मुक्तिं साधितवान् स्यात्। परमात्मनि अचला श्रद्धा भक्तिः च स्याताम्। देवता, शास्त्रं, गुरुः चेत्येतेषां विषये अचलो विश्वासः स्यात्। एताः पूर्वसञ्जताः कर्मयोगेन भक्तियोगेन कर्तुं शक्याः। कर्मयोगेन चित्तशुद्धिः भक्तियोगेन चित्तैकाग्रता च प्राप्यते।

गीतोक्ता चिरन्तनी प्रज्ञा अस्मिन् आधुनिकयुगे अद्यापि प्रासङ्गिकी। अस्य ग्रन्थस्यइमे उपदेशा अस्मान् बृहत्तरप्रयोजनसाधनया करुणया च जीवितुं पारयन्ति। निःस्वार्थकर्तव्यस्य, आन्तरिकबलनिर्माणस्य, धार्मिकाचरणस्य, परमेश्वरभक्तिसेवायाश्च अवधारणाः शाश्वते सुखमार्गे महत्त्वपूर्णपाठरूपेण कार्यं कुर्वन्ति। समकालीनजीवने जटिलसङ्कर्षैः सम्मुखीभूय एते पाठाः उपदेशा वा अस्मान् स्मारयन्ति यत् अस्माकं मानसिकी दृढता, भक्तिक्रिया च महत्त्वपूर्णाः सन्ति। नित्यकर्मणां फलस्य अपेक्षां विना कर्माणि साधितानि। युगान्तरं सर्वेषु भूमिषु भगवद्गीतायाः आध्यात्मिकसंवादेन बहवः प्राणाः जागृताः। धर्म-संयमौ अस्मान् कर्मसु अनुप्रेरयतः। साधारणकर्मणाम् अस्वाभाविकहितकर्मत्वेन परिणमनेनापि श्रान्ता हृद्वृत्तिरपि सान्त्वनां परिलभते। विपदि अद्यापि गीतोक्ता प्राचीनोपदेशाः अग्रे अस्मान् अनुप्रेरयन्ति।

अद्यत्वे प्रत्येकस्मिन् क्षेत्रे वयं नैतिकदृष्ट्या अनैतिकम् आचरणं, लोभवशात् स्वार्थवशाच्च प्रेरितम् आचरणं पश्यामः। परन्तु भगवद्गीतायाम् अतल्लीनव्यक्तिगतलाभात् नैतिकताधारेण विकल्पं कर्तुं महद्बलं दत्तमस्ति। वयं संकीर्णस्य, अल्पकालिकस्य स्वार्थस्य स्थाने अस्माकं कार्याणां बृहत्तरं प्रभावं मन्यामहे। गीतोक्त-नैतिकमूल्यबोधानामनुशीलनेनैववयं जीवने उन्नतेः शीर्षं प्राप्नुमः। सुदृढनैतिकसिद्धान्तैः जीवनं अन्ततः अर्थपूर्णं, गौरवपूर्णं च भवति।

अर्जुनस्य युद्धप्रवेशात् पूर्वं प्रारम्भिकः संकोचस्तावदासीत् आत्मसंशयः।भगवद्गीता अस्माकमान्तरिकशक्तेः सदुपयोगं कृत्वा अस्माकं यथार्थस्वभावेन सह सम्बद्धतां संस्थाप्य आत्मसंशयं भयं च दूरीकर्तुं मार्गान् प्रदर्शयति। अस्माकं अन्तःस्थजन्ममरणाभ्यां परं शाश्वतं आत्मानं ज्ञातुं दृढप्रत्ययेन युद्धाह्वानं कर्तुं गीता अस्मान् संप्रेरयति। गीता उपदिशति यत् स्वस्य उच्चतरात्मना सह संयोज्य वयं विघ्नान् अतिक्रम्य आत्मविश्वासेन निर्भयेन च जीवितुं शक्नुमः।

प्राचीनसांस्कृतिकपरिसरे श्रीगीतायाः छत्रच्छायां मनुष्यत्वबोधस्य क्रमविकाशः अवश्यम्भावीति। अस्मिन् विज्ञानप्रयुक्तिपरिस्फूर्तिकमनुजसभ्यतायां ग्रन्थरत्नस्यास्य वर्मवाणी सततमेव प्रतिध्वन्यते।

एवं भगवद्गीता सांस्कृतिकधार्मिकसीमानमतिक्रम्य कालातीतां प्रज्ञामस्मभ्यं प्रददाति। अस्य ग्रन्थस्य शिक्षाः उपदेशा वेति जीवनस्य आह्वनानां निवारणाय अस्माकं कार्येषु अर्थमुद्देश्यश्चान्वेष्टुं व्यावहारिकं मार्गदर्शनं कुर्वन्ति। वयं स्वकर्तव्यमालिङ्ग्य, वैराग्यस्य विकाशं संसाध्य,आत्मसंशयमतिक्रम्य, ज्ञानमन्विष्य, मनःसन्तोषस्य अभ्यासं कृत्वा च अस्माकमाधुनिकजीवने गीतोक्तभावान् प्रयोक्तुं शक्नुमः। गीता प्रकाशस्तम्भरूपेण कार्यं कृत्वाअस्मान् अधिकसन्तुलितंपूर्णम्आध्यात्मिकं जीवनं च प्रति प्रेरयतीति।

ग्रन्थसूची

गीता दिग्दर्शन– सुधाकर तिवारी, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, 2014 (प्रथम संस्करण)।

श्रीमद्भगवद्गीता (मधुसूदनसरस्वतीकृतटीका समेत), सम्पा. वाचस्पति द्विवेदी, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 2013 (प्रथम संस्करण)।

श्रीमद्भगवद्गीता– भाष्यकार सम्पूर्णानन्द सरस्वती, संस्कृत अकाडेमी, दिल्ली, 2013 (प्रथम संस्करण)।

सहायकाध्यापकः, संस्कृत-विभागः
शैलजानन्द-फाल्गुनी-महाविद्यालयः
वीरभूमः, पश्चिमवङ्गः
7980375017
mail.lokesh87@gmail.com,

दर्शनशास्त्रनिकाये मुक्तिवादविमर्शः

डॉ. शुभ्रजित् सेनः एवं डॉ. सोमनाथ-चट्टोपाध्यायः

धर्मार्थकाममोक्षाश्चतुर्वर्गाः। एतेषु मोक्ष एव परमः पुरुषार्थः। शास्त्रान्तरेषु यदेव मुक्तिपदवाच्यं तदेवेह मोक्षशब्देनोच्यते। तथाहि *अमरकोषे* मुक्तिशब्दस्य पर्यायत्वेन बहवः शब्दाः प्रोक्ताः – ***कैवल्यं निर्वाणं श्रेयो निःश्रेयसममृतं मोक्षोऽपवर्गः***।[1] पूर्वोक्तान् पर्यायवाचकशब्दान् विहाय मुक्तिशब्दस्य अन्यानि शब्दान्तराणि प्राप्यन्ते, तद्यथा – स्वरूपप्राप्तिः, अपुनरावृत्तिः, ब्रह्मभवनम्, ब्रह्मनिर्वाणम्, ब्रह्मलयः, संज्ञानाशः, प्रलयश्चेति।

मुक्तिशब्दार्थस्तावत् मोचनमिति । 'मुच्लृ मोक्षणे' (तु० उ० अ०) इति धातोरुत्तरं क्तिन्-प्रत्ययेन (3.3.94) मुक्तिशब्दसिद्धिः। *मुक्तिर्मोचनमोक्षयोः* इति हैमः। जटाधरेणात्राधिकतयोक्तम् – *'अपुनर्भवः स्थिरः, अक्षरमिति। सा च मुक्तिः सार्ष्टिः, सालोक्यं, सारूप्यं, सायुज्यं, निर्वाणश्चे*ति पञ्चविधा उक्तेति श्रूयते।

वेदोपनिषत्सु अमृतत्वप्राप्तिर्हि मुक्तिः – ***य इत्तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशुः***।[2] ये च वेदोक्तं तत्त्ववस्तुजातं विदन्ति, त एवामृतत्वं लभन्ते। अपि च, यः ब्रह्मस्वरूपं वेत्ति, स तस्मिन् सम्यक्तया स्थितो भवति नाम पुनर्नावर्तते – ***य इत्तद्विदु स्त इमे समासते***।[3] दीर्घतमार्षिणा आम्नातमेतत्। तन्नये, ब्रह्मज्ञाननैव जीवो ब्रह्मणि सम्यक्तया स्थितिं लभते। ब्रह्मणि सकृत् सम्यक्तया स्थिते सति जीवः इहसंसारे पुनर्न प्रत्यावर्तत इत्येव अमृतत्वं मोक्षो वेत्युच्यते। ***ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति***।[4] अर्थात् ब्रह्मज्ञानलाभात्परमेव जीवो ब्रह्म भवतीति न, ब्रह्मज्ञानोदयात्पूर्वमपि स ब्रह्मैवासीत् – *तदपश्यत्तदासीत्तदभवत्*। श्रुतौ आम्नायते – ***ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति य एवं वेद***।[5]

इच्छामात्रमेव अविद्या। तस्या अविद्याया नाशे मुक्तिः –***इच्छामात्रमविद्येयं तन्नाशो मोक्ष उच्यते***।[6] वासनायास्तनुभावः मोक्षशब्देनोच्यते *महोपनिषदि* – ***वासनातानवं ब्रह्मन् मोक्ष इत्यभिधीयते***।[7] अत्र तनुभावशब्दाथो नाश इति। निःशेषरूपेण वासनायाः परित्यागं साधवः उत्तममोक्षत्रस्य विलयक्रमं कथितवन्तः। ***मोक्षः स्यात् वासनाक्षय***[8] इति मुक्तिकोपनिषत्। *योगवाशिष्ठरामायणे* भोगवासनात्यागो हि मुक्तिरिष्यते।[9] सुखदुःखदायककर्मणां लयो हि मोक्षः इति। अपि च, ***सा मुक्तिर्ब्रह्मणा चैक्यम्*** इति *गरुडपुराणम्*। *ब्रह्मवैवर्तपुराणस्य* तु निर्वाणपददात्री, हरिभक्तिप्रदा वेति द्वैविध्यं समर्थितम्—

मुक्तिस्तु द्विविधा साध्विश्रुत्युक्ता सर्वसम्मता।
निर्वाणपददात्री च हरिभक्तिप्रदा नृणाम्॥
हरिभक्तिस्वरूपश्च मुक्तिं वाञ्छन्ति साधवः॥[10]

निःशेषरूपेण वेदनाया निवृत्तिरूपिणी अवस्थैव मुक्तिः। तथाहि *चरकसंहितायाम्* उक्तम् —

योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्तनम्।
मोक्षो निवृत्तिनिःशेषो योगो मोक्षप्रवर्तकः।।[11]

धर्मग्रन्थादिषु हरिभक्तिप्रदा मुक्तिरेव उपपादिता, दर्शनग्रन्थेषु निर्वाणपददात्री मुक्तिरेव वैशद्येन तर्कवितर्कैः प्रत्यपादि।

दुर्गादासतर्कवागीशकृतायां *धातुदीपिकायां* मुक्तिशब्दस्य तात्पर्यमित्थम्[12]– बन्धनरहितभावे अकर्मकोऽयम्। आलानान्मुक्तो गजः कर्त्तरि क्तः। एवं पापान्मुक्त इत्यादौ पापबन्धनान्मुक्त इत्यर्थः।

वैष्णवानां मते – हरिरेवात्मा। तेषां नये, संसारी पुरुषो हरिभजनादेव मुक्तः सन् विष्णवात्मकत्वमेति। अतो, हरिभक्तिप्रदा मुक्तिर्यस्य भवति, स **'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्'** इति जनिमरणचक्रे नावर्तते। तथाहि *वह्निपुराणे* उक्तम् –

हरिरात्मा न सन्देहः यदा तत्समजायते।
तदा मुक्तः स संसारी विष्णोरेवात्मतां व्रजति॥
नान्यथा मुच्यते चात्मा भ्रमन् वै घटियन्त्रवद्॥

अतः विषयवासनापरित्यागपुरःसरमीश्वरभजनादेव मुक्तिः। *महाभारते* तु विषयतृष्णापरित्यागपूर्विका ब्रह्मप्राप्तिरेव मुक्तिः।[13] आचार्यमनुमते, सर्वषु स्थावरजङ्गमात्मकेषु अहमेव आत्मत्वेनास्मीति, सर्वाणि परमात्मापरिणामसिद्धानि मय्येव परमात्मनि प्रकाशन्त इति यः किल मनुते, स एव ब्रह्मत्वमाप्नोति। तदुक्तं *मनुसंहितायाम्* –

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥

गीतायाम् अपि सममेव भावो गीतः –

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।[14]

शङ्करभाष्ये भाषितः श्लोकार्थः – सर्वभूतस्थं सर्वेषु भूतेषु स्थितं स्वम् आत्मानं सर्वभूतानि च आत्मनि ब्रह्मादीनि स्तम्बपर्यन्तानि च सर्वभूतानि आत्मनि एकतां गतानि ईक्षते पश्यति योगयुक्तात्मा समाहितान्तःकरणः सर्वत्र समदर्शनः सर्वेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु विषमेषु सर्वभूतेषु समं निर्विशेषं ब्रह्मात्मैकत्वविषयं दर्शनं ज्ञानं यस्य स सर्वत्र समदर्शनः।।एतस्य आत्मैकत्वदर्शनस्य फलम् उच्यते इति।

पूर्वमेवोक्तं यत् 'मृच्लृ मोक्षणे' इति मोक्षणार्थकात् मृच्लृ-धातोः क्तिन्-प्रत्यये मुक्तिशब्दो निष्पन्नः। किन्तु कस्मिन्मोक्षणमिति चेत् कैश्चिदुच्यते दुःखादिति, कैश्चिद्वा बन्धादिति। बन्धादित्युक्ते कीदृशो बन्ध इति जिज्ञासा स्वाभाविकी एव। केचित्तु शरीरस्यैव बन्धत्वं स्वीकुर्वन्ति। परं तन्न युक्तम्, आत्महत्यादिना केवलशरीरादपि मोक्षसम्भवात्। यतः शरीरस्य बन्धत्वं दुःखहतुत्वादेव जायत इति कृत्वा दुःखमेव बन्ध इति स्वीकार्यम्। तस्मादेव भारतीयदर्शनप्रस्थानानि भिन्नमतानि प्रस्तुवन्ति स्म। अत्र प्रतिदर्शनप्रस्थानं मोक्षविषयकाः राद्धान्ता वादा वेति आलोच्यन्ते –

नास्तिकानां मुक्तिविमर्शः –

दृश्यतेऽवबुध्यते वस्तुतत्त्वमनेन इति **दर्शनम्** । परमं वस्तुतत्त्वमेकं चेदपि दृष्टिकोणगतं भेदमनुसृत्य दर्शनानां भेदः सञ्जातः । एतेषु चार्वाक-बौद्ध-जैनदर्शनानि नास्तिकदर्शनानि, अन्यानि आस्तिकदर्शनानि इति गण्यन्ते । ये वेदप्रामाण्यं नाङ्गीकुर्वन्ति, ते नास्तिकाः । आस्तिकानान्तु परमं प्रमाणं वेदाः भवन्ति । उक्तञ्च –

नास्ति वेदोदितो लोक इति येषां मतिः स्थिरा ।
नास्तिकास्ते तथाऽस्तीति मतिर्येषां त आस्तिकाः ॥
अवैदिकप्रमाणानां सिद्धान्तानां निदर्शकाः ।
चार्वाकप्रभृतयश्च त्रयो लोकेषु नास्तिकाः ॥
वेदप्रमाणकानीह प्रोचुर्ये दर्शनानि षट् ।
न्यायवैशेषिकादीनि स्मृतास्ते आस्तिकाभिधाः ॥

अस्मिन् शोधबन्धे नास्तिकदर्शनत्रितये प्रतिपादितस्य मोक्षवादस्य अवधारणा विचार्यते संक्षेपेण –

चार्वाकमते मुक्तिः –

चार्वाकमते, काम एवैकः पुरुषार्थः। *मरणमेव अपवर्ग* इति चार्वाकाः। आत्मकेन्द्रिकं संकीर्णं, स्थूलम्, इन्द्रियोपभोगजन्यं पशुसुलभं च सुखमेव एतेषां मतेन परमपुरुषार्थः। अङ्गनालिङ्गनादिजन्यं केवलमिह लौकिकं सुखमेवं पुरुषार्थः, स एव च स्वर्गपदाभिधेयतामेति। प्रियवस्तुनो वियोगेन अप्रियवस्तुनः संयोगेन च जायमानं दुःखमेव चास्ति नरकः। एतन्मते, जगति सुखस्यैवोपादेयत्वं सिद्ध्यति निश्चीयते च। यद्यपि सुखस्य सर्वमतेन उपादेयत्वं सिद्धमेव न असिद्धमिति। परन्तु तथापि चार्वाकमते सन्मार्गेण असन्मार्गेण वा केनापि मार्गेण सुखं जायतामिति सुखप्राप्तिरेव चास्ति सर्वथा जीवनस्य प्रधानोद्देश्यीभूता। तथा चोक्तं *चार्वाकषष्टौ* –

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

एवं स्थिते अङ्गनाऽऽलिङ्गनादिजन्यस्य धर्मादिरूपकारणाजन्यस्य स्वर्ग रूपफलस्य सम्प्राप्तिरेव पुरुषार्थः। एतन्मते, धर्माधर्मौ नहि सुखदुःखयोः कारणे स्तः, भवितुं वार्हतः, अपि तु प्रियवस्तुनोऽवियोगस्य, अप्रियवस्तुनः संयोगस्य च धर्माऽधर्मौ प्रति हेतुत्वादिति ।

चार्वाका वराका अर्थकामयोरेव पुरुषार्थत्वं स्वीकुर्वन्ति । 'आद्यन्तौ टकितौ' इति न्यायेन आद्यन्तयोः टित्-कित्संज्ञान्तर्गतत्वात् तादृशसंज्ञाया एव धर्मस्य अपुरुषार्थतायां मानत्वात्। तत्त्वतो धर्मस्य पुरुषार्थत्वमेव नास्ति, तस्य स्वयमेव खपुष्पायितत्वात्, वन्ध्यापुत्रायितत्वाच्चेत्यस्ति चार्वाकस्य अभिप्रायः। अर्थात् यथा बन्ध्यापुत्रस्य, खपुष्पस्य च नास्ति किमपि सत्त्वं नाम अस्तित्वम्, केवलं शब्दानुपूर्वीमात्रमेव समनुभूयते न तु तत्र चास्ति काऽप्यर्थानुपूर्वी, तस्याः सर्वथा समाप्तत्वात् ।

चार्वाकाः मोक्षविषये चेत्थं विचारयन्ति यत्, देहच्छेदरूपस्य मोक्षस्यापि नास्ति पुरुषार्थत्वम्। यतः- मोक्षस्य कोऽस्ति अनुभवकर्ता, तथा कोऽस्ति तस्य पूर्णतया ज्ञाता, कश्चास्ति मोक्षस्याऽऽधारः आत्यन्तिक-दुःखनिवृत्तिश्चेन्मोक्षस्तस्य अनुभवविधानन्तु, तथा प्राप्तिस्तु इदानीमप्यत्रैव भवितुमर्हति तेषां येषां पयोदधियुतस्य, सघृतस्य, भोजनस्य अङ्गनालिङ्गनादेश्चाऽस्ति समीचीना साध्वी व्यवस्थेति ध्येयम् ।

किन्तु, सुशिक्षितचार्वाकाणां नये, न चाल्पं सीमायितं जैवसुखं काव्यम्, परन्तु असीमानन्तपरितृप्तिहीनानन्दमयं सुखमेव विजिज्ञासितव्यम्। तथाहि तेषां नये- 'नाल्पे सुखमस्ति भूमात्वेन विजिज्ञासितव्यः' (*श्वेताश्वतरोपनिषद्*) इति। अतो, 'भूमैव सुखमिति' उपनिषद्वाक्यमेव सुशिक्षितचार्वाकैरुच्चार्य्यते।

विषयभोग एव मुक्तिरिति चार्वाकमतमपि न युक्तम्, विषयभोगेन विषयवासनायाः क्रमेण वर्धनात्, तेन सांसारिकाणां जीवानां सुखदुःखभोगिनामपि मुक्तत्वापत्तेश्च।

जैनमते मुक्तिः –

जन्मजरामयमरणैः शोक-दुःख-भयैश्च परिमुक्तावस्थैव निर्व्वाणमुच्यते जैनाचार्यैः। इदञ्च निर्वाणं शुद्धसुखं नित्यं निःश्रेयसमिष्यते[15] इति रत्नकरण्डक-श्रावकाचारकृत्। अपि चोक्तम् –

परमात्मनि जीवात्मलयः सेति त्रिदण्डिनः।
लयो लिङ्गव्ययोऽत्रेष्टो जीवनाशश्च नेष्यते।।[16]

जैनधर्मस्य निर्वाणं मोक्षस्यैव पर्यायवाचकत्वेन स्वीकृतम्। परं क्वचित् निर्वाणं मोक्षस्य परवर्तिपर्यायत्वेन परिकल्पितम्।[17] जैनदर्शनमते जीवस्य दुःखान्तकमेव निर्वाणम् – *जीवाः सिध्यन्ति बुध्यन्ते मुच्यन्ते परिनिर्वान्ति सर्वदुःखानामन्तं कुर्वन्ति* इति उत्तराध्ययनसूत्रकृत्।

किञ्च, मुक्तिर्नाम जीवात् पुद्गलस्य वियोगः। एतेषां मते, मुक्तिलाभस्याद्यप्रक्रिया हि – 'संवरः' पुद्गलसञ्चारनिरोधो वेति। द्वितीया प्रक्रिया हि – निर्जरः जीवस्य 'कर्मनाशः' इति।

जैनमते, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि इति त्रिरत्नेन मोक्षो जायते। तथाहि – उपस्वामिना *'तत्त्वर्थाधिगमसूत्रे'* आवेदितं – ***सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्राणि मोक्षमार्गाः'*** इति।

सम्यक्चरित्रलाभार्थम् अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा इत्येतानि पञ्चमहाव्रतानि उद्यापनीयानि। त्रिरत्नानां समाहारेणैव, न तु व्यस्तभावेन मुक्तिर्जायते। जैनमते, मुक्तजीवोऽनन्तज्ञान- अनन्तदर्शन-अनन्तशक्त्यनन्तानन्दानाम् अधिकारी भवति। परिशेषे वक्तव्यं यत्, केवलं जैनधर्मावलम्बी एव निर्वाणाधिकारी। अन्ये धर्मावलम्बिनो निर्वाणे प्रतिष्ठितास्सन्तोऽपि ते जैनदर्शनदृष्ट्या बद्धाः।

बौद्धमते मुक्तिः-

प्राग्बौद्धयुगादेव निर्वाणशब्दस्तावत् संस्कृतभाषायां जीवस्य परमार्थ इत्यर्थे प्रयुज्यते। अस्त्यर्थे उदारता-प्रेम-प्रज्ञारूपस्य शीलत्रितयस्य अभ्यास एव निर्वाणम्। ज्ञानी आर्य्यश्रावकः इन्द्रिय-विषयाणामुपभोगे कथमपि निरतो न भवति। तत्र स आनन्दं नानुभवति। तदर्थं तस्य तृष्णाया उपशमो न भवति। तृष्णानिरोधाय उपादानस्य नाम अत्यन्ताकाङ्क्षाया निरोधो भवति। उपादानस्य निरोधे सति भवस्य नाम पुर्वजन्मगतसञ्चितकर्मणो निरोधो भवति। भवनिरोधेनैव जन्मनिरोधः। पुनर्जन्माभावे मृत्यु-शोक-क्रन्दन-उत्पीडनादिदुःखानि प्रध्वंसन्ति। एवंप्रकारको निरोध एव निर्वाणम्।[18] निर्वाणस्य सुखस्वरूपत्वं न केवलमनुभवन्ति प्राप्तनिर्वाणाः महापुरुषाः, अप्राप्तनिर्वाणा अपि।[19] निर्वाणावस्थितेः किमपि निर्दिष्टं स्थानं नास्ति। शीलप्रतिष्ठिते मनसि वशीकृते सर्वत्र निर्वाणस्य साक्षात्कारो भवितुमर्हति।

महाकविना अश्वघोषेण उक्तम् –

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न किञ्चिद् विदिशं न किञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेतिशान्तिम्।।
तथा कृती निवृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न किञ्चित् विदिशं न किञ्चित् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्।।[20]

अपि चोक्तं – **निर्व्वाणे स्थापनीयास्तत् पुनर्जन्म निवर्तके।**[21] किन्तु निर्व्वाणं मनुष्यशब्दवाच्यं ज्ञानगम्यं नेति कृत्वा नागार्ज्जुनेन अभावात्मकः शब्दः प्रयुक्तोऽस्य व्याख्यानार्थम्। तन्नये, निर्वाणमिदमप्रतीतम्, असम्प्राप्तम्, अनुच्छिन्नम्, अशाश्वतम्, अनिरुद्धम्, अनुत्पन्नञ्च।[22] माध्यमिककारिकायाः वृत्तिकृत् चन्द्रकीर्तिः निर्व्वाणं शून्यतया समं तुलितवान् – **तस्मात् शून्यतैव सर्वप्रपञ्चवृत्तिलक्षणत्वात् निर्वाणमित्युच्यते।**[23] सर्वे बौद्धधर्मावलम्बिनः निर्वाणस्य द्वैविध्यमङ्गीकृतवन्तः –सोपाधिशेष-निर्वाणम्, अनुपाधिशेषनिर्वाणञ्चेति। निर्वाणावस्थायां कामना-शोक-दुःखादीनां निर्वाणं भवत्यपि देहः अवशिष्यते। अयमवस्था क्लेशनिर्वाणावस्थेति। परं परिनिर्वाणे किमपि नावशिष्यते। प्रसङ्गत उल्लेख्यं यत् महायानसम्प्रदायात् हीनयानस्य निर्वाणमुपजीव्य सविशेषं पार्थक्यं नास्तीति निर्वाण-शीर्षके प्रबन्धे श्रीसतीशचन्द्रविद्याभूषणेन स्पष्टीकृतम् –

The exposition of the term Nirvaana as given in the works of Northern School, does not materially differ from that given in those of the Southern School.[24]

वैभाषिक-सौत्रान्तिकभेदात् हीनयानसम्प्रदायः द्विधा विभक्तः। तत्र वैभाषिकाः निर्वाणं प्रतिसंख्यं निरोधं कथितवन्तः। अभिधर्मकोषस्य व्याख्यानुसारं विशुद्धप्रज्ञासहायेन सांसारिक-सास्रवधर्मस्य तथा संस्कारस्य यदा अन्तो भवति, तदा तन्निर्वाणं कथ्यते। निर्वाणं नित्यम्, असंस्कृतधर्मविशेषः, भाववस्तु, पृथग्भूतसत्यरूपपदार्थः। किन्तु सौत्रान्तिकमते, विशुद्धज्ञानोदये भौतिकजीवनस्य चरमनिरोधो हि निर्वाणम्। अस्यामवस्थायां भौतिकसत्ता कथमपि न विद्यत इति कृत्वा निर्वाणं भौतिकसत्तायाः अभावरूपम्। निर्वाणप्राप्तेः परं सूक्ष्मचेतना विद्यते केवलमिति मन्यन्ते सौत्रान्तिकबौद्धाः।

निवार्णलाभ एव मुक्तिरिति बौद्धाः। बौद्धदर्शने तथा अद्वैतवेदान्ते जीवन्मुक्तिः स्वीकृता। जीवितावस्थायामेव यन्मुक्तिः लभ्यते, तदेव जीवन्मुक्तिः। आचार्यशङ्कर-गौतमबुद्धौ जीवन्मुक्तपुरुषत्वेन संस्मरणीयौ। तथा हि बुद्धदेवो दुःखकातराणां प्राणिनां त्राणमार्गनिर्देशार्थं बुद्धत्वलाभात्परमपि अजीवत्। बुद्धमते- मानवानां सार्विकदुःखनाश एव निर्वाणम्। ननु केनोपायेनैव निर्वाणमेतज्जायत इति चेदुच्यते – 'अष्टाङ्गिकमार्गैः' इति। लब्धनिर्वाणः अर्हद्रूपेण लोके प्रयुज्यते।

सवासनमुच्छेदो ज्ञानोपरमो मुक्तिरिति बौद्धाः। ***'न प्रेत्य संज्ञास्ति'*** इति श्रुतिः। बौद्धमतं न युक्तम्। सर्वतः प्रियतमस्यात्मानः समुच्छेदाय प्रेक्षावतां प्रवृत्त्यनुपपत्तेः बन्धविच्छेदात्मकस्य मोक्षस्य तथात्वाभावाच्च।

अपरे बौद्धा वदन्ति – निखिलवासनाया उच्छेदे विगते विषयाकारोपप्लवे विशुद्धज्ञानोदयो भवति। न्यायकन्दलीकारमते तदपि अयुक्तम्। कारणाभावे तदनुत्पत्तेः, बन्धमोक्षयोः एकाधिकरण्याभावात्, तन्नये, तस्य चासम्भवात्।

डाँ.सुरेन्द्रनाथ-दाशगुप्तो मन्यते यत् निर्वाणं जागतिकज्ञानेन भाषया वा व्याख्यागम्यं न भवति। कल्पनाजालस्य क्षयो हि निर्वाणमित्येव वक्तुमलम्। डाँ.सर्वपल्लीराधाकृष्णणस्याशयो यत् बुद्धदेवेन मिथ्याकामनाया उच्छेदो निर्वाणमिति नोक्तम् किन्तु तत्सर्वास्तित्वस्य ध्वंसावस्थेति नाभिहितम्। तन्नये, निर्वाणपदेन खलु कामनारूपाग्नेर्विद्वेषस्य अज्ञानस्य च विनाशोऽभिहितः।[25] श्रीमती रिस्-डेभिड् इत्यस्य मते, बौद्धधर्मस्य निर्वाणस्य केवलमर्थस्तावत् ध्वंस[26] इति। ओलडेनवार्ग-महाभागः समभावनायाः समर्थकः।

बौद्धाः निर्वाणापरपर्यायं मोक्षमेव रागादिज्ञानप्रवाहरूपाया वासनाया उच्छेदरूपेण अभिहितवन्तः –

रागादिज्ञानसन्तानवासनाच्छेदसम्भवा।
चतुर्णामपि बौद्धानां मुक्तिरेषा प्रकीर्तिता।।[27]

परिशेषे वक्तव्यं यच्चार्वाकं विहाय सकलभारतीयदर्शनशास्त्राणि मोक्षमेव परमपुरुषार्थतयाङ्गीचक्रुः। बौद्ध-जैनसम्प्रदायौ नास्तिकावप्युभौ सम्प्रदायौ पुरुषार्थत्वेन मोक्षमेव उररीकृतवन्तौ इति शिवम्।

तथ्यसूत्राणि –

1. *अमरकोषः*, 1.5.6-7
2. *ऋक्संहिता*, 1.6.23
3. तत्रैव,1.164.39
4. *छान्दोग्योपनिषत्* , 2.23.1
5. *तैत्तिरीयारण्यकम्*, 2.2
6. *महोपनिषद्*, 4.116
7. तत्रैव
8. *मुक्तिकोपनिषद्*, 2.68
9. *योगवाशिष्ठरामायणम्*, 2.35.3
10. *ब्रह्मवैवर्तपुराणम्*, द्वाविंशत्यध्यायः
11. *चरकसंहिता* , 4.1.116
12. शास्त्रदीपिकाया इदं व्याख्यानं मुख्यतस्तेन *शब्दकल्पद्रुम*देव संगृहीतम्।
13. 'मूलमेतत् त्रिवर्गस्य निवृत्तिर्मोक्ष उच्यते'। (*महाभारतम्*, शान्तिपर्व, 5)
14. *श्रीमद्भगवद्गीता*, 6.29
15. *रत्नकरण्डक-श्रावकाचारः*, 5.10
16. *द्वात्रिंशद्वात्रिंशिका*, 31.8
17. *उत्तराध्ययनसूत्रम्*, 28.30
18. *मिलिन्द प्रश्न*, 3.1.6
19. तत्रैव, 3.1.8
20. *सौन्दरानन्दम्*, 16.28, 26
21. *बुद्धचरितम्*, 15.30
22. *माध्यमिककारिका*, 25.3
23. *माध्यमिकवृत्तिः*, पृ. 125
24. *Nirvaana. Journal of the Buddhist Text* (Vol.I), p 27
25. *Indian Philosophy*, Vol. I, Radhakrishnan, p 447
26. *Buddhism,* T W Rhys Davids (Encyclopaedia Britannica)
27. *सर्वदर्शनसंग्रहः* (बौद्धदर्शनम्), श्लोकः 44

ग्रन्थसूची

- अमरसिंहः—*अमरकोशः*. (1978). अमरकोशः. सम्पादकःहरगोविन्दशास्त्री वाराणसी : चौखाम्बासंस्कृतसिरिज।
- तर्कवाचस्पतिः, तारानाथः. *वाचस्पत्यम्*. (1973). कलिकाता।
- विजयभूषण-वन्द्योपाध्याय. *भारतीयदर्शनेमुक्तिवाद*. (1361,वङ्गाब्द). कलकाता।
- वहादुरः, राधाकान्तदेवः. *शब्दकल्पद्रुमः*. (२००६). सम्पादकःहरिप्रसाद-वसुः, दिल्ली : राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्।
- भिक्षुजगदीशकाश्यप. *मिलिन्दप्रश्न* (हिन्दी अनुवाद)।
- साधुशान्तिनाथ .प्राच्यदर्शनसमीक्षा (हिन्दी), (1940)
- सुरेन्द्रनाथ-दाशगुप्त. भारतीयदर्शन भूमिका (वङ्ग)।
- S. Radhakrishnan. (1) *Indian Philosophy* (2 Vols).
  (2) Gautama Buddha (Pub. 1938).

सहायकाध्यापकः,
गौडवङ्ग-विश्वविद्यालयः, मालदा

सहायकाध्यापकः,
श्यामपुर-सिद्धेश्वरी-महाविद्यालयः, हावडा, प.व.

Role of Five Yama in Environmet Protection

Dr. Sanwar Singh Yadav

We are living in such an era where the base of human life is changing rapidly. Nature has a strong cover around itself but on the behalf of the development human activities break this safe guard of nature, then we need to worry about sustainability of life.

The five Yamas—the ethical disciplines outlined in the first limb of the Yoga Sutras by Patanjali are deeply connected to environmental stewardship. They guide individuals to live in harmony with themselves, others, and the planet. Each Yama, when practiced with awareness, supports sustainability and ecological balance, making them directly relevant to addressing environmental challenges.

Environment means purity of life. Environment is a group of organic and inorganic components. Balanced environment means nourishment of life and the world. The air in which we breathe is a part of the environment. Air has a deep relation with our conduct, life style, thought process. All the components of the environment as, air, dense forest, wildlife, rivers, trees, plants, animals and birds have been related to one another. Therefore, all need pure Water, pure Air, pure Sky, and pure Earth. So environment can't be considered separate from human life. Practices like avoiding single-use plastics or harmful chemicals align with the principle of causing no harm to the planet.

Here development should considered as a part of the life. This can be possible only through the practice of Yama as five norms of life style to get true and meaningful results. In other terms nature is of eight types as, the Earth, Water, Fire, Light, Air, Sky, Mind, Intellect and Ego.[1] as Shree Krishna explains in Geeta. Atharvaveda also tells about the same like that, let the sky, eyelid fire give us abundance of wealth and grains. O air, give us strength, wealth, children, livestock,

Aditya, give us wealth.[2] Since Vedas to modern age, literature has been originating on the base of environmental beauty and its importance in human life. In But now In new definition the word environment originated from the French word 'Enuiron' or 'Environner' means around or round about or surround environment. Therefore, it refers to the sum of total condition at a given point in the space and time.[3]

The surroundings of any organism, including the physical world and other organism, the environment is anything outside and organism in which the organism certain climatic condition, the pollutant of the noise which surround an organism.[4] Environment can be understood by describing it in three basic parts: physical environment, social and cultural environment and psychological. Physical environment is related to geographical climate, weather and physical conditions in which life survives. Climate has a deep impact on human beings. Human anatomy, working capacity, color, form, size etc. depend on geographical climate. Hence, it is called the physical environment in which all types of animals and plants exist. Social and Cultural environment includes social, economic, political and cultural conditions and processes in which the entire life survives.

Under the psychological environment most of people are searching happiness and pleasure in luxury tools. Due to ignorance we mix dangerous chemicals in soil, water, air and living parts of environment. This is only the primary cause of soil, water, air, and noise, cultural and other pollution. The high desire of the happiness creates both greed and violence. As a result, environmental pollution has occurred. And then some other elements take birth due to greed as, anger, pride, illusion and disease, in which the person's feelings become unbalanced and polluted gradually. Finally, these tendencies affect the environment. Every person has his own internal environment which is called human personality. Behind this personality, there is a detailed psychological environment which affects and controls his day today’s functioning and lifestyle.

Every aspect of our life is dependent on the environment because the origin of life is made of five great elements and these five great elements are Earth, Water, fire, Air

and Sky. The combination of these above elements is known as nature, Prakriti or environment. Life is created and operated from these five great elements, and ultimately dissolves into them. This is an ancient and scientific concept given by the Vedas and Upanishads. Tulsidas writes in Kishkindhakand that earth, water, fire, sky and air are the five elements which make up the inferior body. This means that the body is made up of five elements..[5] Whenever there is external environmental pollution, it is natural for the human body to get polluted.

Apart from human, no other creature causes any distortion in the natural world. No one else distorts the physical environment. Therefore, it is man's moral and social responsibility to protect nature and all natural resources. Jain philosophy gives complete expression to the thoughts of environment, consciousness and environmental conservation. Therefore, it considers all the elements related to life and the world to be mutually cooperative and dependent on each other. In Acharangasutra, similarity between human and plant body has been accepted and it has been said that human also takes birth. Plants also take birth. Human also grows, plants also grow. Human is also conscious. Plants are also conscious. If a human's body is hit, he also falls unconscious. Plants also do the same. Human also eats food; plants also eat food. Human body is also temporary. Plant's body is also temporary. If a human body does not get food, it becomes weak. If a plant does not get proper nutrition, it also becomes weak. Thus, there are similarities between human body and plant. Both have souls. Both have living beings. Equal dignity and prestige have been shown in both.[6]

The role of Yama in Environment Conservation:

The concept of environment has been given special importance in both Yoga and Jain philosophy. By following Yama[7] or Panch Mahavrat,[8] feelings of enmity and hatred are eradicated and a sense of equality is developed which becomes the basic foundation for the protection and conservation of the environment and nature.

Here's a detailed exploration of the connection between the five Yamas and the environment:

Non-violence and Environment

1. Ahimsa (Non-Violence)

Ahimsa, or non-violence, emphasizes kindness and compassion toward all living beings, including the Earth. By practicing ahimsa, individuals minimize harm to animals, plants, and ecosystems. This includes adopting eco-friendly habits like reducing waste, avoiding deforestation, and conserving water. as these diets often have a lower environmental impact than meat production, which contributes to deforestation, water pollution, and greenhouse gas emissions. In this context it has been said that the meaning of vegetarianism means non violence and peace. Thus, it denotes such food which is peaceful and harmless too. For happiness and success in life, good health is essential which can be got only from vegetarianism, because all the food requirements like protein, carbonated vitamins, mineral salts are found in abundance in vegetarianism. Wheat, maize, gram, market, sugarcane have carbohydrates in abundance. Fat content is found in large quantities in vegetables, milk, butter etc. Green vegetables and fruits have abundance of vitamins and minerals. By eating a sattvic diet, the mind remains simple in thoughts; there is control over the senses and balance in the brain. Health remains good, thinking power increases, intellectual development takes place and it is healthy.

Not killing any living being, not torturing any living being, not causing pain to any living being is nonviolence. Nonviolence is considered the most important of all virtues and supreme in all religions. Therefore, nonviolence is called the supreme religion. According to Patanjali, nonviolence means. According to Yoga and Jain philosophy, not torturing any living being by mind, speech and action is nonviolence. Ahimsa is used in two senses as negative and positive. In the negative sense, Ahimsa means not killing any living being and in the positive sense, Ahimsa means having self-restraint, sacrifice, kindness, sympathy and friendship towards all living beings.[9]

2. Satya (Truthfulness) and Environment:

Satya encourages truthfulness in thought, word, and action. Truthfulness involves acknowledging the environmental crises such as climate change, deforestation, and pollution. This awareness inspires action.

Practicing satya means making conscious choices about what we consume and being honest about the origins and impact of our consumption—choosing sustainable products over those that harm the environment. Speaking out about environmental degradation and educating others about sustainable living aligns with the practice of satya. Speaking the truth, considering truth as truth and false as false is truth. In the Vedas it has been said about the truth that sky, earth, air and the physical elements are held by truth.[10] Truth is used in two senses, fundamentally and morally. Truth in fundamental sense means knowledge of the ultimate reality, whereas truth in moral sense means describing a thing as it is, as it is known, and expressing it in the same form.

3. Asteya (Non-Stealing) and Environment:

Not having the feeling of stealing is called Asteya. Asteya means refraining from taking what is not freely given, including resources. Overconsumption and exploitation of natural resources (like water, fossil fuels, and forests) can be seen as a form of stealing from future generations. Asteya encourages mindfulness consumption to ensure resources are available for all beings. Taking more than necessary disrupts ecosystems. Asteya supports a balanced approach, leaving enough for other species and the environment to thrive. Wasting food, energy, and materials can be considered theft from others who might need them. By reducing waste, individuals honor asteya and the planet. Illegal usurping of other's property is Asteya. In Indian ethics, wealth has been given an important place in the four goals of human life, Dharma, Artha and Moksha, under which taking other's property in one's possession is theft. Wealth and property are considered to be the reason of almost all types of violence.

4. Aparigraha (Non-Possessiveness or Non-greed) and Environment:

It involves letting go of material attachments and avoiding greed. Aparigraha discourages hoarding and overconsumption, promoting a lifestyle that values quality over quantity. This Yama inspires the use of eco-friendly products and discourages fast fashion, excessive consumerism, and wastefulness. By sharing resources and embracing communal living, aparigraha reduces the individual footprint and fosters collective environmental care. Aprigrah emphasizes moderation and balance in all aspects of life.

Minimalism and Simplicity: By practicing Aprigrah, individuals consume only what they truly need, reducing the strain on natural resources. Moderation extends to energy use opting for public transport, turning off unnecessary lights, or using renewable energy sources supports environmental health.

Aparigraha is an important vow which is very helpful in protecting the environment. There is a great need to stop the increasing consumption of man due to his desires of luxury and greed. Man will use the Pancha Mahabhuta (five elements) such as earth, water, fire, air, sky, vegetation, energy, mineral salts etc. as per his need only then will the entire nature be well and only then will the protection of all living beings be possible.[11] There are two types of possessions. There is internal possession and there is external possession. Passion, hatred, anger, pride, illusion, greed, false philosophy, humor, love etc. come under possession and wealth, grains, land, house, silver, gold etc. and all types of movable and immovable properties come under external possession.

5. Brahmacharya and Environment:

Following ethics and morality is Brahmacharya. Brahmacharya means complete renunciation of five sense related desire. Keeping control of all senses, organs of action and mind is called Brahmacharya Vrata. It helps in natural conservation, stops population growth and limits and controls life. Stealing, violence, lying etc. start developing from youth itself. Therefore, following Brahmacharya not only uplifts human values but also protects natural and environmental values.

Indian philosophical approach and ancient pragmatic life style is capable to strengthen health issues emerging today. All these five values are interlinked with one another to sustain the inner and outer environment of human being. In this way, following the five elements of non-violence, truth, non-stealing, celibacy and non-possession is essential for the purification of physical, spiritual, natural and environmental things. Violence is undesirable not only from a spiritual point of view but also from an environmental point of view. Only the observance of the five Yamas will be able to give new life to the earth suffering from environmental pollution.

Conclusion:

There is no religion in the world that preaches killing or cruelty to any living being. Friendship with everyone everywhere is the basis of every religion. All religions emphasize on equality-based social structure. Thus, brotherhood or friendship is the essence of all religions. Whatever are the problems as poverty, unemployment, hunger, housing, environment, pollution etc. exist in the world today are due to our uncontrolled desires and wishes. Environmental balance will be possible only when humans use their needs in a limited and balanced manner. This awakens the feeling of non-possession which is capable of maintaining the relationship between humans and nature for a long time.

Aparigraha discourages hoarding and overconsumption, promoting a lifestyle that values quality over quantity. This Yama inspires the use of eco-friendly products and discourages fast fashion, excessive consumerism, and wastefulness. By sharing resources and embracing communal living, aparigraha reduces the individual footprint and fosters collective environmental care. Impact of all these above values, the Yamas cultivates an attitude of interconnectedness making individuals aware that their actions affect not only themselves but also the environment and future generations. Practicing these principles encourages individuals to advocate for systemic changes, such as sustainable policies, renewable energy adoption, and conservation efforts. A lifestyle rooted in the Yamas promotes both personal peace and ecological balance, as inner harmony naturally extends to harmonious interactions with the world. The Yama fosters contentment with less, reducing the culture of excess and overproduction that drives environmental destruction.

In essence, the five Yamas serve as a moral compass, guiding humanity to coexist respectfully with nature. By integrating these values into daily life, individuals can contribute to a more sustainable and compassionate world. It is the duty of mankind to recognize the basic nature of all things in the world and try to maintain it in the same form in which it exists. This is the biggest religion. Humanity is the strong foundation of the environment. Non-violence, restraint and love, compassion can be considered essential elements for the protection and promotion of the environment. There is no doubt that Indian culture and religion are based on spirituality which has always spoken about

the worship of nature. Nature influences, implements and controls social and human values. Therefore, the security of the world lies in the protection and promotion of nature and environment.

References

1. *Geeta* 7/4
2. *Atharvaveda* 6/8/79
3. C. Deb. Dr. Swapen, *Environment Management*, Jaico Publishing House, Mumbai, 2004, Page 3
4. Collin, P H. *Dictionary of Ecology and Environment*, 3rd Edition, University Book Hall, New Delhi, 1999
5. Tulsi, *Kishkandhakand* 10/4
6. *Aacharangsutra* 1/5/45
7. *Yogsutra* 2/30
8. Pathak, Diwakar, *Indian Ethics*, Bihar Hindi Granth Academy Patna, Page 102
9. Same, Page 106
10. Same Page 105, 106
11. Same 106

Assistant Professor
Department of Philosophy
University of Patanjali, Haridwar.
Pin : 249405
Mob : 7891072431

Nāda Yoga: The Path of Inner Sound in Yogic Traditions

***Rajesh Singh, **Dr. Sweta malik**

Abstract

Rooted in the metaphysical concept of Nāda Brahma, the notion that the universe originates from and is sustained by sound, Nāda Yoga offers a unique path to self-realization through the disciplined engagement with sound vibrations. Nāda Yoga, often translated as "the yoga of sound," represents a profound and subtle dimension of Indian philosophical and spiritual thought. This paper explains about importance and methods of Nāda Yoga as articulated in classical yogic texts such as the Haṭhayoga Pradīpikā, Śiva Saṁhitā, Gheraṇḍa Saṁhitā, Vāsiṣṭha Saṁhitā, Haṭharatnāvalī alongside metaphysical insights from the Upaniṣad. This paper explains how the systematic practice of Nāda Yoga facilitates the dissolution of mind and leads the practitioner toward laya (absorption) and ultimately samādhi (liberation).

Key words: Nāda Yoga, Sacred sound, Śabda Brahma, Sound, Yoga

Introduction

Yoga means "union," while nāda means "sound." Thus, it is the process of ‘union’ of the ‘individual mind’ with the ‘cosmic consciousness’ through the rhythmic flow of Nāda/sounds.[1] Nāda Yoga, derived from the Sanskrit word “nāda”, which means “sound” or “vibration.” It is an ancient yogic discipline which explores the use of sound as a spiritual pathway to realize inner harmony. The concept of Nāda Brahma, “the universe is sound”, encapsulates the central philosophy of Nāda Yoga, highlighting the belief that the entire cosmos originates and resonates from a primal vibration. Nāda Yoga is the most effective way to achieve the higher state of consciousness. Its significance is demonstrated by the fact that it permanently frees man from all forms of disguises and

diversions and transforms him into a person with such a pure conscience that his unbreakable bond with God is established. Only on the basis of the mysterious powers of Nāda Yoga, the divine powers hidden in the human body are awakened and one can benefit from them. Numerous yogic texts discuss the spiritual importance of Nāda Yoga, Maharshi Gheraṇḍa consider nāda as being more superior than penance, meditation, and even chanting.

जपादष्टगुणं ध्यानं ध्यानादष्टगुणं तपः। तपसोऽष्टगुणं गानं गानात्परतरं नहि॥[2]

It states that, meditation is eight times better than chanting. Penance is eight times better than meditation. Music (Nāda) is eight times better than penance. There is nothing better than music.

श्रीआदिनाथेन सपादकोटिलयप्रकाराः कथिता जयन्ति ।
नादानुसंधानकमेकमेव मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम्॥ [3]

There are 1.25 crore types of Layayoga mentioned by Shri Adinath. Out of them, Nāda-Anusandhān or the exploration of Nāda is considered to be the main one. Nāda is overall superior and has the ability to affect our mind, senses and body. Its significance is described in numerous texts.

इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः । मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादम् आश्रितः॥[4]

[1]Prāṇa is the ruler of the mind, and the mind rules the senses. Dissolution is the lord of the Prāṇa, and Dissolution (Laya) is the basis of Nāda. The meaning here is that the senses cannot function without the cooperation of the mind, and the mind cannot function without the internal vital force i.e. Prāṇa. Laya (dissolution) is the lord of this internal vital force/Prāṇa (air) and this Laya is dependent on Nāda. Nāda, as told by Gorakṣanātha, is described for common people who are unable to attain higher phase of yoga through knowledge of tattva/philosophy. Sound is the form of energy i.e., Shakti.

यत् किञ्चिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा । यस्तत्त्वान्तो निराकारः स एव परमेश्वरः॥[5]

Whatever is heard in the form of sound is only Shakti (energy). And its dissolution is the formless element which is the Parameśvara (God).

Sounds of Nādayoga

Nāda can be physical (āhat nāda) or in its subtle form (Anāhat nāda). [6][7] Anāhat nāda is the sound of the inner self, and āhat nāda is the sound created by friction (including the sound of classical musical instruments). Most people find it difficult to focus on the internal sound or 'Anāhat nāda, so it is advised to take support of external sound or 'āhat nāda' at initial stage of sādhanā.[8] Numerous yogic texts mention various sounds (Anāhat nāda) that are heard at various levels (initial level to higher level) of Nādayog sādhna.

शङ्खध्वनिनिभश्चादौ मध्ये मेघध्वनिर्यथा।
व्योमरन्ध्रगते वायौ मनसा च सहेन्द्रियैः।
ब्रह्मरन्ध्रगते नादो गिरिप्रस्रवणस्तथा॥ [9]

In the beginning it is like the sound of a conch, in the middle it is like the sound of clouds, then when the mind with prāṇa along with the senses enters the Suṣumṇā, then on reaching the Brahmarandhra, the sound produced is like a waterfall falling from a mountain.

आदौ जलधिजीमूतभेरीनिर्झरसम्भवाः। मध्ये मर्दूलशंखोत्था घण्टाकाहलकास्तथा॥
अन्ते तु किंकिणीवृन्दवीणाभ्रमरनिःस्वनाः। इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते देहमध्यतः ॥[10]

In the beginning, the sound of the sea, rumbling clouds, conch and waterfall is heard. In the middle, the sound of a small drum, conch, bell and gong is heard. In the end, the sound of small bells, vīṇā and brahmar is heard. The embodied soul hears such a variety of sounds.

मत्तभृङ्गवेणुवीणासदृशः प्रथमो ध्वनिः ।
घण्टानादसमः पश्चात् ध्वनिर्मेघरवोपमः ।
एवमभ्यसतः पश्चात् संसारध्वान्तनाशनम्॥[11]

Initially this sound sounds like the humming of a bee or the sound of a flute or a Vīṇā. If keep practicing this, then it becomes like the sound of a bell ringing and then like the rumbling of a cloud. This sound is the one that liberates from the world.

आदौ जलधिजीमूतभेरीझर्झरसम्भवाः। मध्ये मर्दलशङ्खोत्था घण्टाकाहलजास्तथा॥
अन्ते तु किङ्किणीवंशवीणाभ्रमरनिःस्वनाः इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते देहमध्यगाः॥ [12]

Firstly, various kinds of sounds are heard, such as those produced by the ocean, clouds, conch, trumpet, etc., in the middle, sounds like those produced by drum, conch, bell, and in the end, sounds like those produced by Kinkini, Venu, Vīṇā and the humming of the bee. Same explanation of sounds are described in Nādabindu Upaniṣad.[13]

Techniques and Practices of Nādayoga

The practice of nāda yoga involves a variety of techniques. When sādhna first begins, people hear external sounds and music (āhat nāda). Later, when they turn inward, they start to listen the sound of silence. Many yogic texts discuss the methods for listening this anāhat nāda.

मुक्तासने स्थितो योगी मुद्रां संधाय शाम्भवीम्। शृणुयाद् दक्षिणे कर्णे नादमन्तःस्थमेकधीः॥
श्रवणपुटनयनयुगलघ्राणमुखानां निरोधनं कार्यम्। शुद्धसुषुम्नासरणौ स्फुटममलं श्रूयते नादः॥[14]

The yogi sitting in Muktāsana, concentrated in Śāmbhavī Mudrā, should listen closely to the Nāda, heard within the right ear. Closing the ears, nose, and mouth, a clear, distinct sound is heard in the purified Suṣumṇā Nādi. After closing both the ears with both the hands, the practitioner should concentrate on the sound he hears till he attains complete stability. By practising this, the external sound vanishes and within 15 days the practitioner overcomes all kinds of obstacles and becomes happy. In the first stage of practice, various types of gross sounds are heard, later on increasing the practice, the subtlest of sounds are heard. The mind should be concentrated on the subtlest of sounds only.

अनिलं मन्दवेगेन भ्रामरीकुम्भकं चरेत् । मन्दं मन्दं रेचयेद्वायुं भृङ्गनादं ततो भवेत्॥
अन्तःस्थं भ्रमरीनादं श्रुत्वा तत्र मनो नयेत् । समाधिर्जायते तत्र आनन्दः सोऽहमित्यतः॥[15]

While doing Rechaka (exhalation), a sound like the humming of a bee is produced. Concentrate your mind on the place where this sound is occurring. This is Nāda Samādhi. Bhrāmarī Prāṇāyāma has been made the medium for Nāda Yoga -Samādhi. Maharshi Gheraṇḍa says that Bhrāmarī Prāṇāyāma should be practiced by closing both the ears with the index fingers. Slowly inhale without making any sound and practice Antar Kumbhak (Internal Retention of Breath) and then exhale. While exhaling, produce Bhramar nāda (Humming Bee sound) and focus your attention on this sound only. He

says that by focusing the mind on the inner sound or nāda for a long time, the inner conscience gets immersed in the state of Samādhi, this is called nāda Samādhi.

सिद्धासने स्थितो योगी मुद्रां सन्धाय वैष्णवीम्।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं सदा॥[16]

After sitting in Siddhāsana, the yogi should do practice Vaiṣṇavī Mudrā. In this state, the Anāhat nāda (sound) occurring inside the right ear can be heard clearly.

हस्ताभ्यां बन्धयेत् सम्यक्कर्णादिकरणानि च।
अङ्गुष्ठाभ्यामुभे श्रोत्रे तर्जनीभ्यां च चक्षुषी ॥
नासापुटौ मध्यमाभ्यां यावच्छक्ति निरोधयेत् ।
अनेनोत्पद्यते नादः शुद्धस्फटिकसन्निभः॥[17]

Close the senses like ears etc. with both hands. Close both the ears with both the thumbs, both the eyes with both the index fingers and both the nostrils with both the middle fingers as much as possible, this gives rise to a clear sound like a Sphaṭik Maṇi (crystal gem).

कर्णौ पिधाय तूलेन यः शृणोति ध्वनिं यमी। तत्र चित्तं स्थिरं कुर्याद्यावत् स्थिरपदं व्रजेत् ॥ [18]

The method of Nāda-Anusandhān is as follows – Close the ears with cotton and listen to the sound until the mind becomes stable.

Stages of the Nādayoga Sādhak

There are some codes for nāda yog sādhak in relation to their clothes and diet.

शीते कालौ द्वौ पटी वा पटी वा पथ्याहारे गोपयो वा पयो वा ।
भक्ष्ये भोज्ये वृत्तिमारण्यकं वा पाणी द्रोणी कोऽपि वा भक्ष्यपात्रे॥[19]

In winter Nāda yoga Sādhak should wear only two or one set of clothes; the diet should be only cow's milk or water; the food should be obtained by bhikṣā or should be forest food; the container should be the hand or some other utensil. During the nādayog saadhna practice, a sādhak underwent through these four stages.

आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च। निष्पत्तिः सर्वयोगेषु स्यादवस्थाचतुष्टयम् ॥[20]

There are four stages - Ārambhāvasthā, Ghaṭāvasthā, Paricayāvasthā, and Niṣpattāvāvasthā.

There are four stages

1. *Ārambhāvasthā* (First Stage)

   In Ārambhāvasthā, as a result of the pierces of Brahma Granthi, one experiences joy. In the body, i.e. the inner body, an extraordinary Jhaṇa-Jhaṇa form of Anāhat Śabda is heard. Then the Yogi becomes divine.

2. *Ghaṭāvasthā* (Second Stage)

   In the second stage, when the yogi becomes firm in the asana, due to the pierces of Viṣṇu Granthi, the Prāṇa is circulated in the Suṣumṇā, then the words Bherī (a type of musical instrument) are heard in Kapālkuhara (Cranial space), then the Yogi becomes godlike.

3. *Paricayāvasthā* (Third Stage)

   In the third stage, a sound like the sound of a drum is heard in Ājñā Cakra. And then the Prāṇa reaches the great Antarākāśa which provides all siddhis.

4. *Niṣpattāvāvasthā.* (Fourth Stage)

   In the fourth stage, when the Prāṇa pierces the Rudra Granthi and reaches the place of Śiva situated in the Ājñā Cakra, then the seeker hears the tinkling sound of a Vīṇā with well-blended notes.

Nādayoga as a Gateway to Spiritual Upliftment

By attuning the mind to the inner, unstruck sound (anāhata nāda), the sādhaka transcends the distractions of the external world and dissolves mental fluctuations, leading to a heightened state of awareness. As the journey progresses from gross to subtle vibrations, the practitioner experiences a purification of consciousness and a deep connection with the inner self.

Nādabindu Upaniṣad is one of the upaniṣad, which has come from Ṛgveda. In this upaniṣad, a method called Nāda-Aunsandhān has been described to attain the Turīya state (Highest state of consciousness). It mention about Nāda Yoga as,

सर्वचिन्तां समुत्सृज्य सर्वचेष्टाविवर्जितः। नादमेवानुसन्दध्यान्नादे चित्तं विलीयते॥[21]

Practitioner (Sādhak) should drop his thoughts and should concentrate on Nāda only because through this practice the mind merges into Nāda. Nādabindu Upaniṣad mention about the technique as well as benefits of Nāda. Just as milk mixes with water, a seeker should also integrate his mind with Nāda, Just as a bumblebee drinking the nectar of a flower does not expect other smells, similarly, when the mind gets absorbed in the Nāda, it does not desire external objects, abandons fickleness and becomes calm and stable.

तदानन्दी भवेद्देही वायुस्तेन जितो भवेत् ।[22]

Then the prāna comes under control and the yogi attains bliss.

मकरन्दं पिबेद् भृंगो गन्धो न प्रेक्ष्यते यथा। नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्नहि कांक्षते ॥ [23]

Just as a stunned and intoxicated bee does not pay attention to the smell, similarly the mind of a Yogi merged into nāda, does not aspire for worldly pleasures. Similar example is given in Nādabindu Upaniṣad [24] and Haṭhayoga Pradīpikā [25]

एतदभ्यासयोगेन जित्वा सम्यक् गुणान् बहून्। सर्वारम्भपरित्यागी चिदाकाशे विलीयते॥[26]

By continuous practice of this Nāda Yog Sādhanā, the seeker becomes free from all the desires by going beyond the triguṇa and his mind gets merged into Chidākāsh.

न मानं नावमानं च सन्त्यक्त्वा तु समाधिना । अवस्थात्रयमन्वेति न चित्तं योगिनः सदा ॥[27]

Such a Yogi does not experience either respect or disrespect. He renounces everything in his Samādhi. The mind of such a Yogi does not involved in the three states of consciousness i.e., Jāgrat, Svapna, and Suṣupti state.

Nādayoga offers a transformative path that not only calms the mind but also awakens the soul, serving as a powerful gateway to spiritual upliftment, self-realization, and union with the divine.

Conclusion

As a subtle and profound path within the larger framework of yoga, Nāda Yoga guides practitioners from the experience of external, gross sound (āhata nāda) to the discovery of the subtle, unstruck inner sound (anāhata nāda) heard in deep meditation. Through deep listening, controlled breath, and meditative absorption on Nāda, the practitioner gradually transcends the sensory world and enters a state of deep inner stillness and unity with Nāda. Nāda Yoga bridges the outer world of sound with the inner realm of silence, guiding the seeker on a journey from the material to the spiritual, from noise to stillness, and from duality to oneness. Nāda Yoga is a profound branch of yoga that focuses on sound (nāda) as a means to attain spiritual awakening and union with the divine.

References

1. Mehandiratta C. Nadayoga - *A Contemporary Analysis: Review Study*. International Journal of Science and Research (IJSR). 2020; 9(5): 88 – 90. Available at: https://www.ijsr.net/get_abstract.php?paper_id=SR20429142727
2. *Gheraṇḍa Saṁhitā* -Chapter-5, Sloka-84.
3. *Haṭhayoga Pradīpikā*-Chapter-4, Sloka-66.
4. Ibid.- 4.29
5. Ibid.- 4.102.
6. *Nādabindu Upaniṣad,* Sloka-38.
7. Sairam TV. *Nada yoga and Raga Chikitsa: Two eyes of music therapy*. Bhavan's J. 2012; 58:89-94.
8. Pandya P. *Science and Spirituality- Awaken the Hidden powers of Hearing by Nada Yoga*. Akhand Jyoti. 2005;3.
9. *Vāsiṣṭha Saṁhitā* -Chapter-3, Sloka-40.
10. *Haṭharatnāvalī* -Chapter-4, Sloka-10,11.
11. *Śiva Saṁhitā* -Pancham Patal, Sloka-41,42.
12. *Haṭhayoga Pradīpikā*-Chapter-4, Sloka-85,86.
13. *Nādabindu Upaniṣad* - Sloka=34,35.
14. *Haṭhayoga Pradīpikā*-Chapter-4, Sloka-67,68.
15. *Gheraṇḍa Saṁhitā* - Chapter-7, Sloka-9,10.

16. *Nādabindu Upaniṣad* - Sloka-31.
17. *Vāsiṣṭha Saṁhitā* - Chapter 3, sloka 37,38.
18. *Haṭharatnāvalī* - Chapter-4, Sloka-7.
19. Ibid.- 4.8.
20. *Haṭhayoga Pradīpikā*- Chapter-4, Sloka-69.
21. *Nādabindu Upaniṣad* -Sloka-41.
22. *Vāsiṣṭha Saṁhitā* - Chapter-3, Sloka 41.
23. *Haṭharatnāvalī* - Chapter-4, Sloka-12.
24. *Nādabindu Upaniṣad* - Sloka 42.
25. *Haṭhayoga Pradīpikā*- Chapter-4, Sloka-90
26. *Śiva Saṁhitā* -Pancham Patal, Sloka-45.
27. *Nādabindu Upaniṣad* -Sloka-54.

**Ph.D. Scholar (Yoga),*
Mohanlal Sukhadia University, Udaipur,
Rajasthan,
rajeshsingh251632@gmail.com,
Phone : 9560354611

***Dr. Sweta Malik,*
Assistant Professor (Yoga),
Children's Research University, Gandhinagar,
Gujarat,
swetamalik@cugujarat.ac.in,
Phone : 9520361326

Philosophical and Practical Approaches to Overcoming Challenges in Agama-Tantra Practice: Insights from the *Bhagavad Gita*

Rajkumar Powdel

Abstract:

Challenges that are being faced by practitioners on the Agama and Tantra Sādhanā path have been examined in this research paper with theoretical and practical lessons drawn from the Bhagavad Gita to defeat these challenges. Practitioners are likely to undergo internal challenges (doubt, mental instability, attachment, ego, fear) and external challenges (social misunderstanding, unconducive environment, material constraints). The Bhagavad Gita, in its explanation of Karma Yoga, Jnana Yoga, Bhakti Yoga, and Dhyana Yoga, gives deep philosophical understanding (e.g., the eternal nature of Ātman, the true nature of Karma, and discrimination of Gunas) and sound practical techniques (e.g., equanimity (Samatva), control over the senses (Indriya Nigraha), frequent practice and detachment (Abhyāsa-Vairāgya), devotion (Bhakti), and surrender to the Divine). This essay contends that the divine teachings of Bhagavad Gita can inspire practitioners, even though it may be in the particular setting of Agama-Tantra sādhanā, towards stability of mind, resistance to obstacles, and progressive development in the spiritual path. It makes use of the eternal nature of the Bhagavad Gita and its application in every spiritual practice.

Keywords: Agama-Tantra, Sādhanā, Challenges, Bhagavad Gita, Philosophical Approaches, Practical Approaches, Mental Stability, Karma Yoga, Jnana Yoga, Bhakti Yoga, Dhyana Yoga.

1. Introduction

The spiritual path, an ancient human pursuit, generally sets people on paths requiring intense commitment. Two such are Agama and Tantra, rich, complex systems of spiritual practice (sādhanā) for liberation and union with the divine[1]. Filled with distinctive rituals, philosophies, and yogic practices, they provide potent mechanisms of change[2]. Yet, like any intense spiritual involvement, Agama-Tantra sādhanā has its inherent difficulties. Experts typically face a range of internal and external issues challenging their will and trust. These challenges may be in the form of existential questioning, internal ups and downs, group attachment, emergence of ego, or societal misperceptions.

The Bhagavad Gita is a sacred book in India's philosophical tradition and a cross-culturally valued source of spiritual guidance[3]. Bound as a JSON between Lord Krishna and Arjuna, the Gita is the only religious scripture that lies beyond sectarian boundaries, offering principles for coping with life's complexities and developing spiritual consciousness. It combines Karma Yoga (unselfish action), Jnana Yoga (wisdom), Bhakti Yoga (devotion), and Dhyana Yoga (meditation) systematically. Not strictly an Agama or a Tantra treatise, the fundamental teachings of the Gita regarding reality, self, action, and mind are of the utmost applicability and relevance to all serious spiritual aspirants, including Agama-Tantra sādhanā followes.

This essay examines difficulties in Agama-Tantra sādhanā and uses philosophical and practical understanding from the Bhagavad Gita to address them. It reflects on how the Gita's teachings are able to offer a strong infrastructure for mental balance, resilience, and ongoing advancement in sādhanā, demonstrating its ongoing relevance across spiritual traditions.

2. The Nature of Challenges in Agama-Tantra Practice

The metamorphic nature of Agama-Tantra sādhanā needs an effective understanding of the issues present in it[4]. These are typically the outcome of intense introspection and spiritual purification. One must begin by addressing their effective identification to surmount them.

2.1. Internal/Psychological Challenges: ***The internal space of the yogi is a primary area of challenge.***

2.1.1. Doubt (Saṃśaya) and Sadness (Vishāda): Uncertainty about practices or teachings can arise, leading to despondency, e.g., Arjuna's breakdown during war (Bhagavad Gita, Chapter 1) [3]. This can stop practice or impede it.

2.1.2. Distraction and Mental Restlessness (Vikṣepa, Chañchalatā): Spontaneous mind restlessness is an ever-present obstacle. Arjuna accurately characterized his own mind when he wrote, "The mind is very restless, O Krishna, turbulent, strong, and stubborn. I think it is harder to control than the wind" (BG 6.34)[3]. For yogīs following concentrated meditation or japa, mental restlessness due to outside objects, memories, or worry regarding the future is a pesky obstacle.

2.1.3. Attachment (Āsakti) and Dislike (Dveṣa): Attachment to spiritual states, ritualistic results (e.g., siddhis), or identification as a "sādhaka" can enslave the practitioner [1]. Disgust with unwanted practices or ego dissolution shows up as dislike. Both inhibit real freedom.

2.1.4. Ego and Pride (Ahaṃkāra): Spiritual development can give rise to new ego, expressed as pride or superiority [2]. This spiritual ego surreptitiously promotes the independent self, negating the very purpose of spiritual practice.

2.1.5. Fear and Anxiety (Bhaya): Spiritual development has to do with facing the unknown, and hence fears of losing control, overbearing mystical phenomena, social withdrawal, or even ego dissolution. Anxiety induced through strict practices is debilitating.

2.1.6. Disillusionment and Burnout: Strict sādhanā demands enormous discipline. Unsatisfactory expectations or slow progress leads to disillusion. Coupled with prolonged endeavor, this can lead to mental and physical fatigue, burnout, and abandonment of practice.

2.2. Situational/External Challenges: ***Situational/external challenges also occur.***

Social Misunderstanding and Exclusion: Agama and Tantra are often not well understood or otherwise distrusted[1]. Practitioners are open to ridicule or exclusion by unimaginative others.

2.2.1. Lack of Conducive Environment: It is challenging to find a quiet, distraction-free area for regular practice in the contemporary urban environment. Access to authentic teachers (gurus) and like-minded community (saṅgha) is essential, and their absence is posing grave challenges.

2.2.2. Material Hindrances: Money problems, domestic obligations, and ill health often compete with resources and time available for severe sādhanā. Accommodating these tasks and spiritual goals is a continuous effort.

These multifaceted challenges underscore the need for an integrated methodology yielding both deep understanding and pragmatic solutions to promote ongoing spiritual growth. The Bhagavad Gita, in its unified world view of Yoga, provides just such a model.

3. Philosophical Insights from Bhagavad Gita

The philosophical insight of the Gita is the grass-roots wisdom that revolutionizes a practitioner's understanding of things. This wisdom (Jnana Yoga) is not intellectual only but to be realized, essentially changing one's life and way of sādhanā.

3.1. The Unchanging Self (Ātman): *Overcoming Fear and Loss*

At the essence of Gita philosophy is the precept of the unchanging, untouchable Self (Ātman)[3]. Krishna always reminds us that the unbreakable spirit, and not the evanescent body, mind, or ego, is the real essence of a person. Self-realization as the Ātman is highest wisdom. To devoted practitioners who undergo rigorous Tantric practices, such awareness is an unshakeable anchor dissolving death, loss, and suffering-related fears through mistaken identification. It gives rise to courage and detachment, and allows the practitioner to see beyond transitive states.

Relevant Shlokas

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे । *(B G 2.20)* [3]

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति । *(B G 2.13)* [3]

3.2. The Nature of Action (Karma) and Non-Attachment to Results (Nishkama Karma): Overcoming Attachment and Disappointment The Bhagavad Gita's teaching on Karma Yoga—action with no attachment to its outcome—is a fundamental practice of living the spiritual life in a practical way[3]. Krishna explains that one can have the right to do duties (karma), but not have the right to or be attached to their fruit (phala). The emphasis is then placed upon the uprightness of the action itself, as an offering or duty (dharma). This is important for those that practice Agama-Tantra, as they may perform rituals in order to acquire certain siddhis. By concentrating on sādhanā as unselfish offering, seekers are saved from disappointment or ego, with consistent effort and freedom.

Relevent Shlokas:

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूमा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ *(B G 2.47)* [3]

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ *(B G 2.48)* [3]

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ *(B G 3.9)* [3]

3.3. The Three Gunas (Sattva, Rajas, Tamas): *How to Understand and Master Mental States* The Gita's explanation of the Triguṇas—Sattva, Rajas, and Tamas—is an immensely deep psychological model for self-consciousness[3]. Everything that exists, including mind and emotion, is a creation of these three qualities of Prakriti (original nature) [5]: Sattva (goodness, purity) binds in attachment with joy and knowledge; Rajas

(passion, activity) binds in attachment with action and fruit of action; and Tamas (ignorance, dullness) binds in heedlessness and indolence. Realization of the gunas allows practitioners to perceive and overcome inner turmoil (e.g., restlessness due to rajas, lethargy due to tamas, subtle pride due to sattva), cultivating self-knowledge and conscious cultivation of sattvic tendencies that support sādhanā. The ultimate goal is to have overcome the three gunas (guṇātīta).

Relevant Shlokas:

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ***(B G 14.5)*** [3]

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ ***(B G 14.17)*** [3]

The BG 14.22-25 description of the Guṇātīta depicts a person who has gone beyond the gunas, being equanimous.

3.4. Nature of the Doer (Kartā): *Defeating Ego and Illusory Consciousness of Self*

The Gita offers profound insight into the process of activity, separating the ego-occupied acting self from the true Self, and making particular Prakriti's role[3]. Things are actually done by the gunas of Prakriti (material nature) but not by one's own Ātman. The ego-deluded (ahaṃkāra-vimūḍhātmā) mistakenly thinks itself to be the independent doer (kartā). This awareness is the key to breaking the spiritual ego, which is the common trap. By understanding that actions, even spiritual, are a game of the gunas, the practitioner remains humble and free from pride and the weight of an artificial sense of responsibility. Freedom from identification by the ego as the doer allows for greater surrender and more spiritual intimacy.

Relevant Shlokas:

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ ***(B G 3.27)*** [3]

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यन् श्रुवन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन् ॥ *(B G 5.8)* [3]

4. Practical Solutions of the Bhagavad Gita

Besides philosophy, the Bhagavad Gita offers immediate techniques and attitudes for the development of the body and mind that are of key importance for the Agama-Tantra sadhana paths [6].

4.1. Equanimity (Samatva): *The Basis of Mental Equilibrium*

Concept: Samatva is being unaffected and calm in all circumstances—pleasure and pain, gain and loss, victory and defeat. Krishna says, "Yoga is calmness"

योगः कर्मसु कौशलम् । समत्वं योग उच्यते ॥ *(B G 2.48)* [3]

Relevance to Challenges: It is especially used for emotional reactivity and mental instability. In extreme sādhanā, the experience could be from ecstatic absorption to extreme discomfort. Samatva allows the practitioner to keep even, embracing all experience without aversion or attachment. It fosters tolerance towards external criticism or internal conflict, allowing continuous focus on spiritual goals.

Relevant Shlokas:

समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ *(B G 2.15)* [3]

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ *(B G 2.48)* [3]

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मानः ॥ *(B G 6.19)* [3]

4.2. Control of the Senses and Mind (Indriya Nigraha, Manaḥ Saṃyama): *Discipline for Focus*

Concept: One of the recurring concepts during the Gita is the need to overcome the strong and unstable senses and mind[3]. This entails bringing the senses in from objects and stabilizing the mind.

Relevance to Challenges: This works against distraction and restlessness of the mind. Agama-Tantra practices usually require strict concentration upon yantras, gods, or mantras. Without Indriya Nigraha, the mind will always become distracted, refusing to let its deep meditation or ritual performance succeed. Krishna acknowledges such difficulty but offers Abhyāsa and Vairāgya as the cure to overcome it.

Relevant Shlokas:

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ***(B G 2.58)***[3]

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते । ***(B G 2.62)***[3]

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता । ***(B G 2.68)***[3]

4.3. Abhyāsa and Vairāgya: The Pillars of Progress

Concept: Both of these principles are essential to direct the disturbed mind and soul development. Abhyāsa is the consistent, firm, and stable spiritual discipline for a long duration. Vairāgya is renunciation of worldly objects and worldly desires through insight into their transitory character and understanding the higher pleasure of spiritual wisdom.

Relevance to Challenges: The twin method has direct opposition to disappointment and burnout. When progress is slow, abhyāsa insists on persistent endeavor. Vairāgya helps the practitioner let go of expectations of immediate gains or particular spiritual experiences and cultivate commitment regardless of result. It also resists the inertia (tamas) and distracting desire (rajas) that invade practice.

Relevant Shlokas:

न "असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥" ***(B G 6.35)***[3]

4.4. Surrender (Śaraṇāgati) and Devotion (Bhakti): *Conquering Ego and Fear*

Concept: Bhakti Yoga focuses on the development of supreme love and deep devotion to the Lord (Ishvara). Śaraṇāgati is total surrender of one's will, actions, and their results unto the Lord [3].

Relevance to Challenges: It provides great psychological and spiritual comfort. To the Agama-Tantra practitioner, it can relieve fears of burden (of overwhelming religious experience, failure, fear of being) and ego. In letting go of all effort and result to the Divine, the practitioner is relieved of personal responsibility anxiety and the insidious traps of religious ego. This encourages humility, inner peace, and sense of deep communion, which is necessary to manage the intense energy work and deity-cantered practices inherent in Tantra. It makes practice devotional rather than ego-driven. This is seen elsewhere in Gita interpretations [5].

Relevant Shlokas:

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ***(B G 18.66)*** [3]

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ***(B G 18.65)*** [3]

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ ***(B G 12.2)*** [3]

4.5. Yoga as Skill in Action (Yoga Karmasu Kauśalam): *Expert and Ethical Conduct*

Concept: Krishna defines Yoga as "skill in action" (BG 2.50) [3], and it is to perform actions and duties equally and unattached to outcomes, thus avoiding involvement with karmas.

Application to Challenges: This lesson reorganizes the performance of carefully intricate rituals and practice. It requires that the practitioners perform each step of their

sādhanā with skill, intention, and dedication (skill), but not become emotionally attached to the means or the goal. This prevents them from burnout by working too much and guarantees that the practice itself will lead to freedom and not new bondage or frustration. It also directs moral behavior in the Tantric practice strong sphere, where the abandonment of the moral implications of actions when done out of duty (dharma) and divine intention is advocated.

Relevant Shlokas:

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्। (*B G* 2.50) [3]

5. Integration and Application in Agama-Tantra Practice

Bhagavad Gita teachings apply universally to reinforce and supplement practice in both Tantra and Agama. All the issues inherent to Agama-Tantra sādhanā—ranging from deep mental disturbances to ego traps from the development of spiritual powers (siddhis) or social pressures—find immediate and highly deep solutions on the Gita pattern. Theoretical insights by authors like Feuerstein and Brooks also go to further explain the unique nature of these issues within Tantric traditions [1,2].

The metaphysical directives of the Gita (Jnana Yoga) are beneficial to practitioners. The realization that Ātman is the true, unchanging Self dispels Existential anxiety and offers a firm foundation for the deep, typically disturbing experiences of higher Tantric practice. The Nishkama Karma teaching is especially applicable in Agama-Tantra, where ceremonies can be conducted for the purpose of manifesting specific effects. Carrying out the actions without prior knowledge of outcomes, the practitioners eschew the quagmire of ego and disappointment and preserve clean and liberating practice. They have a knowledge of the gunas (Sattva, Rajas, Tamas), which enables the practitioner to determine and control the causes of changes of the mind, stagnation or excitement during profound meditations and mindfully develop sattvic virtues. Finally, the attainment of Kartā (non-doer) breaks down spiritual ego, promoting humility essential to surrender before the divine forces at the heart of Tantric devotion [4].

At the same time, the Gita's pragmatic means provide immediate avenues for the sādhaka to actually deal with barriers. Developing Samatva (equanimity) allows practitioners to stand firm despite the dualities of experience that inevitably accompany intense sādhanā. Equanimity develops resistance against external criticism or inner conflict. The synergy of Abhyāsa (consistent practice) and Vairāgya (dispassion) methodically conquers the turbulent mind and senses (Indriya Nigraha), making effortless concentration deeper in mantra, yantra, and maṇḍala practices with unbroken concentration possible. Additionally, Bhakti (faith) and Śaraṇāgati (submission) also bestow immense psychological and spiritual confidence. By leaving everything effort and outcome to the Divine, the practitioner is relieved of fear, anxiety, and ego, and is filled with much peace and firm contact that harmonizes well with Agama-Tantra's devotional and deity-conscious spirituality [5]. The Yoga Karmasu Kauśalam philosophy translates the practice of intricate Agamic rituals and Tantric practices into skillful, liberating actions that avoid karmic entanglement. Sharma's emphasis on the universal principles of Yoga [6] provides a broader philosophical context to these procedures.

The Bhagavad Gita is essentially a spiritual manual for living that holds good even on the particular currents of Agama and Tantra. Its emphasis on self-awareness, unselfish action, control over the mind, and devotion establishes a powerful inner environment in which external challenges are made irrelevant and internal obstacles are overcome consciously. By synthesizing these methods, the Agama-Tantra yogi can practice sādhanā as not simply the ritual performance of technique, but as an entire odyssey of spiritual awakening and self-awareness, moving beyond all obstruction.

Conclusion

The way of spiritual evolution, especially in the full-bodied and complex Agama and Tantra traditions, is a divinely ordained but demanding endeavour. The adepts always have to cope with an avalanche of issues, internal—such as paralyzing doubts, inner strife, and the infinitesimal perils of ego—and external, from social misperception andaday-to-day limitations to malevolent energies. This essay has specifically shown

how the ageless wisdom contained in the Bhagavad Gita provides a strong and comprehensive framework—both of philosophical insight as well as practical methods—to fight and overcome these challenges effectively.

The philosophical teachings of the Gita form the foundation clarity on which sādhanā is based. The unchanging Ātman philosophy lends unshakeable fortitude against impermanence and the fear of loss. Nishkama Karma teaches detachment from the fruits of spiritual endeavour, eliminating disappointment and bringing real detachment. Understanding the Triguṇas brings mastery in discrimination as well as mastery over one's states of mind, and understanding of the non-doership (Kartā) destroys the evil hold of ego-spirituality, leaving the way free to deeper, selfless practice.

Coupled with these philosophical principles, the Gita provides tangible, sequential approaches to spiritual health. The development of Samatva (equanimity) allows one to stay firm in the face of the dualities of experience, and attain mental stability required for rigorous practices. The complementary practice of Abhyāsa (incessant practice) and Vairāgya (dispassion) gradually tames the shaky mind and senses (Indriya Nigraha), resulting in improved focus and unconquerable will. In addition, the deep paths of Bhakti (devotion) and Śaraṇāgati (surrender) bring about immense spiritual and psychological comfort, dispelling fear and anxiety and rendering sādhanā a fervent oblation[5]. Lastly, the Yoga Karmasu Kauśalam teaching raises all action, even ritualistic behavior, to that of skillful and liberative action.

Briefly, the Bhagavad Gita is a global handbook of mental and spiritual resilience. Its precepts, if wisely followed in the terms of Agama and Tantra tradition, do not merely yield coping strategies; they present a radical paradigm for building solid inner strength, developing an invincible spirit, and embracing adversity with wisdom and integrity. The abiding value of the Gita lies in its deep ability to inspire people to convert adversity into opportunities for enhanced insight and consistent movement towards ultimate liberation of the spirit.

References

1. Brooks DO. *The Secret of the Three Cities: An Introduction to Hindu Shakta Tantrism.* Chicago: University of Chicago Press; 1990.
2. Feuerstein G. Tantra: *The Path of Ecstasy*. Boston: Shambhala; 1998.
3. Radhakrishnan S, translator. *The Bhagavadgita: With an Introductory Essay, Sanskrit Text, English Translation and Notes.* London: George Allen & Unwin; 1948.
4. Flood G. *The Tantric Body: The Secret Tradition of Hindu Religion.* London: I.B. Tauris; 2006.
5. Sivananda S. *The Bhagavad Gita.* The Divine Life Society; 1996.
6. Sharma RP. *Yoga Darshan Evam Sadhanayein*. Rajasthan University Press; 2018.

Ph.D. Research Scholar (JRF, UGC)
Affiliated To: The Department of Yoga,
Manipur Central University,Canchipur,
Imphal,795003
Manipur.
Contact: rajkumar.phd.yoga@manipuruniv.ac.in
9233065694

Conceptual values of Kundalini in Tantra

Monika anand

In traditional text, kundalini energy is poised underlying the human body as a subtle energy, which has merely been used by Mahatma and Rishi Muni to attain the ultimate goal of reunion of Shiva and Shakti. The distinction between the Upanishads and Hatha yoga, or other types of texts, is superficial. The preliminary technique of Sadhna might be different, but the ultimate goal is Moksha. The objective of the research article is an attempt to render the nature of kundalini from multiple texts, which elevates the structure of research. Shiv Samhita, Sidh Sidhant Padhati, Yograj Upanishad, and other treatises, research papers, and articles are taken in this research. Kundalini energy is subtly lying inside the human body, which provides the energy to the rest of the body to perform its psychophysiological function. All treatises stated that performing sadhana removes all upcoming obstacles from the path of the union of Shiva and Shakti.

Keywords: *Kundalini, Hath yoga, Tantra, Upanishad.*

Introduction

Kundalini is a feminine word of Sankriti, which means 'the coiled one' and that originated around 1300 years ago within Tantric books, and it wasn't used in any kind of literature for a number of centuries. Kundalini energy lies in the human body from the pelvic plexus to the cerebral gland. In the process of awakening of chakra, it begins from mooladhar chakra to achieve or meet the almighty with the aid of asana, pranayama, kriya yoga, and ashtanga yoga. Kundalini energy is underlying in every human's body in subtle form. In ancient times, the guru decides to whom to give this knowledge to use this energy for society's welfare. Distinct books are there that enlighten the knowledge of kundalini by its known experience and elaborate on multiple chakras in the body.

Kundalini in treatise

Yog Chudamani Upanishad

In the Yog Chudamani Upanishad, it is stated that the Kundalini lies amid the Muladhar and Svadhisthana chakras. This is also considered as *Kamrup* because it creates the world.[1] The structure of the kundalini is similar to the egg of a bird.[2] Kundalini derives the Hans Mantra, which diminishes all sins and bestows liberation from transgression. This *Ajapa Gayatri Mantra* is providing salvation for yogis; this is supreme knowledge that was never found earlier and cannot be created afterward.[3] The kundalini energy remains always present in the upper part of the trunk in the form of eight coils, covering the mouth of the Brahma Davar.[4] This divine energy (Kundalini) remains asleep by covering with its mouth the same door (mouth) through which the manomaya brahma door (sushumna) is entered.[5] Awakened by Vahriyoga (Agniyoga), it moves upward in the form of light like a needle through the Sushumna nerve along with the mind and the vital air.[6] Just as a house's door opened with a key, similarly the yogis open the door to liberation with the help of kundalini.

Trishikhi Brahmana Upanishad

The concept of Kundalini in the *Trishikhi Brahman upanishad* is different as compared to another Upanishad. It stated that the center of the body is the navel, and it carries a wheel with twelve spokes (Tilliya). Lord Vishnu and other deities have their abode in those spokes. Lord stands there, and making the plexus of the wheel of Maya.[7] The Jiva revolves around the wheel, one spoke after another, hanging on prana, like a spider balancing in the middle of a spider's web. Jiva could not exist without prana.[8]

Kundalini lies above the chakra (navel) with a horizontal line.[9] It contains eight different constituents and is a spiral of eight coils.[10] Subsequently, it regulates the prana, apana, and the onward passage of water and food.[11] It has a pit that leads to the *Brahmarandh ,* while doing yoga. It shines like a serpent in the ether of the heart when awakened by agni (fire) and prana.[12]

Yoga Kundalini Upanishad

Elaborate and discuss the method of awakening *Kundalini* in depth. The procedure of kundalini awakening begins from *Chitta* (fickle of chitta), which is caused by *Vasna* (Sanskar), and *Vayu* means Prana; if one of them gets restrained,[13] then the other automatically gets restrained. There are three ways to conquer the prana: – *Mitahar, Asana and Shaktichalini.*[14] It stated that kundalini is supreme power; the wise practitioner should arouse it from its seat to the middle of the eyebrows, which is known as *Shaktichalini*.[15] It introduces two sources of awakening the power of kundalini: first, *Saraswati Chalan*and second, *Pranavodh* (Pranayama). Kundalini gets uprightness with the restraint of prana.[16] When striving to uplift the kundalini slightly, then it moves into the mouth of *Sushumna Nadi* by which it moves upward. Along with this, Prana leaves it reside and starts flowing in the Sushumna.[17, 18]

Bhastrika Pranayama removes the obstacles (kapha) from the mouth of Sushumna. During the practices of *Muladhar, Agni* moves into the kundalini as well as *Sushumna Nadi.*[19] Kundalini gets burned (awakened) by Agni heat; consequently, it straightens up, roaring like a tortured serpent.[20] In this way, this kundalini shakti moving through the eightfold (five elements, mind, intellect, and ego) nature, it becomes one with Shiva and amalgamates in them. Just as gold melted and expanded due to the heat of fire, similarly, whether this physical body is small or large, divine energy spread all over the body.

Dhyan Bindu Upanishad

Making a rope of *Ardhamatra* (unspoken sound) of pranava, that merges the water-like kundalini in the middle of the eyebrow through the well-channel (Sushumna) in the form of a lotus-like heart.[21] It also describes the position of the kundalini, which lies amid the Muladhar and Swadisthan chakras, which are referred to as *Kamrup*.[22] The Parmeshwari (kundalini) awakened by *Vahriyoga* is in a dormant state, covering that doorway with its mouth. When awakened, it moves upwards through the Sushumna path along with the mind and the vital air, just as a needle takes the thread along. The yogi opens the door of liberation with the kundalini Shakti in the same way a door is opened with a clap.

Shiva Samhita

In the Shiva Samhita, describe the place of kundalini and its significance. Kundalini resides in *Yoni* that is situated in the stick of Aadharpadhm. In the same place, the kundalini deity spread three and a half kutila whose radiance is like electricity, and it is situated in the path of Sushumna.[23] The kundalini is the enthusiastic creator of the universe in many ways and is *Vagra Devi* the goddess of speech; the sentence is uttered from her, and the demigods offer their obeisances to this goddess.[24]

Jabal Darshan Upanishad

Kundalini lies 2 fingers below the navel kandh. It has been stated that *Ashtaprakriti roop (earth, water, light, air, sky, mind, intellect, and ego).*[25] It always exists by covering the anterior part of Navel Kandh from all sides, blocking the flow of air, water, food, etc.[26] Kundalini envelops the Brahmarandh by its mouth. When prana entered in mooladhar,[27] it is known as *Adhya Vishuv Yoga*. While prana vayu moves into the Sahasrara chakra, then it is known as the last Vishnu Yogasthiti.[28] All inhalation and exhalation are considered to be *Mas-Sankranti.*[29] When Prana arrives at Kundalini via Ida Nandi, then that time is considered as *Chandra Grahankal.* Similarly, when prana reached kundalini through Pingla nadi, it is known as Surya Grahan.[30]

Yograj Upanishad

The Yograj Upanishad talks about awakening the 9 chakras to reach the highest point of spirituality and obtain the Sidhi. Kundalini (Vahni kundh) is situated in the mool kandh of Apansthal, which is also known as *Kamroop*.[31]

Conclusion

The Upanishads have elaborated on and described the position and process of Kundalini to meet the supreme power (Shiva). Briefly describe the technique to eliminate the obstacle from the way of energy. Every Upanishad has its own theory of chakra, and each has varied in the number of chakras, but the method and ultimate goal are the same. The awakening of chakra is not allowed to all to do; it is only given by gurus or shastras to those who are accepted by gurus. Kundalini is situated amid the mooladhar and swadhisthan or nearer to the mooladhar, which is also considered as Kamroop.

Reference

1. सहस्रदलसङ्ख्यातं ब्रह्मरन्ध्र महापथि । आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ॥ 6॥
योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते । कामाख्यं तु गुदस्थाने पङ्कजं तु चतुर्दलम् ॥ 7॥
Yog chudamani upanishad Shri ram Sharma, 108 upanishad, 1 edition, Sanskriti santhan Bareilly,1961.
2. तावज्जीवो भ्रमत्येवं यावत्तत्त्वं न विन्दति । ऊर्ध्वं मेद्रादधो नाभेः कन्दे योनिः खगाण्डवत् ॥ 14॥
yoga chudamani upanishad Pandit shri ram Sharma, 108 upanishad, 1 edition, Sanskriti santhan Bareilly.1961.
3. एतत्सङ्ख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा । अजपानाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा ॥ 33॥
yoga chudamani upanishad Pandit shri ram Sharma, 108 upanishad, 1 edition, Sanskriti santhan Bareilly, 1961.
4 प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित् । कन्दोर्धी कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः ॥ 36॥
yoga chudamani upanishad Pandit Shri Ram Sharma, 108 upanishad, 1 edition, Sanskriti santhan bareilly,1961
5. ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाय तिष्ठति । येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारमनामयम् ॥ 37॥
Yoga Chudamani upanishad. Pandit Shri Ram Sharma, 108 upanishad, 1 edition, Sanskriti santhan bareilly,1961
6 मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी । प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह ॥ 38 ॥
Yog Chudamani upanishad. Pandit Shri Ram Sharma, 108 upanishad, 1 edition, Sanskriti santhan bareilly,1961
7 तत्र चक्रं द्वादशारं तेषु विष्ण्वादिमूर्तयः । अहं तत्र स्थितश्चक्रं भ्रामयामि स्वमायया ॥59॥
Trishikhi Brahman upanishad.Pandit shri ram Sharma , 108 upanishad , 1 edition, Sanskriti sansthan Bareilly, 1961;168-9.
8 अरेषु भ्रमते जीवः क्रमेण द्विजसत्तम। तन्तुपञ्जरमध्यस्था यथा भ्रमति लूतिका ॥60॥
Trishikhi Brahman upanishad Pandit shri ram Sharma , 108 upanishad , 1 edition, Sanskriti sansthan Bareilly, 1961;170.
9 प्राणाधिरूढश्वरति जीवस्तेन विना न हि। तस्योर्ध्व कुण्डलीस्थानं नाभेस्तिर्यगथोर्ध्वतः ॥61॥
Trishikhi Brahman upanishad Pandit shri ram Sharma , 108 upanishad , 1 edition, Sanskriti sansthan Bareilly, 1961;169-170
10 अष्टप्रकृतिरूपा सा चाष्टधा कुण्डलीकृता । यथावद्वायुसंचार ज्वलनादि च नित्यशः ॥62॥
Trishikhi Brahman upanishad. Pandit shri ram Sharma , 108 upanishad , 1 edition, Sanskriti sansthan Bareilly, 1961;169-70.
11 परितः कन्दपार्श्वे तु निरुध्येव सदा स्थिता । मुखेनैव समावेष्ट्य ब्रह्मरन्ध्रमुखं यथा ॥63 ॥
Trishikhi Brahman upanishad Pandit shri ram Sharma , 108 upanishad , 1 edition, Sanskriti sansthan Bareilly, 1961;169-70.

12 योगकालेन मरुता साग्निना बोधगया सती। स्फुरिता हृदयाकाशे नागरूपा महोज्ज्वला ॥64॥
अपनाद्वयङ्गलादूर्ध्वमधो मेदस्य तावता । देहमध्यं मनुष्याणां हृन्मध्यं तु चतुष्पदाम् ॥65॥
Trishikhi Brahman upanishad. Pandit shri ram Sharma , 108 upanishad , 1 edition, Sanskriti sansthan Bareilly, 1961;169-70.

13 हेतुद्वयं हि चित्तस्य वासना च समीरणः । तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तद्द्वावपि विनश्यतः ॥ 1॥
yogakundalini upanishad. www.shdvef.com

14 तयोरादौ समीरस्य जयं कुर्यान्नरः सदा । मिताहारश्वासनं च शक्तिश्चालस्तृतीयकः ॥ 2॥
yoga kundalini upanishad www.shdvef.com

15 कुण्डल्येव भवेच्छक्तिस्तां तु सञ्चालयेद्बुधः । स्वस्थानादानुवोर्मध्यं शक्तिचालनमुच्यते ॥ 7॥
yoga kundalini upanishad. www.shdvef.com

16 तत्साधने द्वयं मुख्यं सरस्वत्यास्तु चालनम् । प्राणरोधमथाभ्यासादृज्वी कुण्डलिनी भवेत् ॥ 8॥
www.shdvef.com

17 मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयाच्चालयेत्सुधीः । ऊर्ध्वमाकर्षयेत्किञ्चित्सुषुम्नां कुण्डलीगताम् ॥ 13॥
yoga kundalini Upanishad www.shdvef.com

18 तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं व्रजेत् । जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः ॥ 14॥
yoga kundalini upanishad. www.shdvef.com

19 तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता सम्प्रबुध्यते । दण्डाहतभुजङ्गीव निःश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥ 45॥
yoga kundalini upanishad. www.shdvef.com

20 बिलप्रवेशतो यत्र ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत् । तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥ 46॥
yoga kundalini upanishad www.shdvef.com

21 अर्धमात्रात्मकं कृत्वा कोशीभूतं तु पङ्कजम् । कर्षयेन्नलमात्रेण भ्रुवोर्मध्ये लयं नयेत् ॥ 39॥
Dhayan Bindu upanishad. www.shdvef.com

22 योनिस्थानं तयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते । आधाराख्ये गुदस्थाने पङ्कजं यच्चतुर्दलम् ॥ 44॥
Dhyan Bindu upanishad. www.shdvef.com

23 तस्मिन्नाधारपद्मे च कर्णिकायां सु- शोभना ॥ त्रिकोणा वर्त्तते योनिः सर्वतं- त्रेषु गोपिता ॥ 22/2॥
तत्र विद्युल्लताकारा कुण्डली परदे- वता ।।॥ सार्द्धत्रिकरा कुटिला सुषुम्णा मार्ग संस्थिता ॥ 23 /2॥
Shiva Samhita. Kerman Shri Krishna, shiva Samhita, 1960;42.

24. जगत्संसृष्टिरूपा सा निर्माणे सत- तोद्यता ।। वाचामवाच्या वाग्देवी सदा देवैर्नमस्कृता ।। 24/2 ॥
shiva samhita. Kerman Shri Krishna, shiva Samhita, 1960;43.

25 नाभिकन्दादधः स्थानं कुण्डल्या द्व्यङ्गुलं मुने। अष्टप्रकृतिरूपा सा कुण्डली मुनिसत्तम ॥11/4॥
jabal darshan upanishad. Pandit Shri Ram Sharma, 108 upanishad, 1 edition , Sanskriti sansthana bareilly, 1961:101

26 यथावद्वायुचेष्टां च जलानादीनि नित्यशः । परितः कन्दपार्श्वेषु निरुध्यैव सदा स्थिता ॥12 /4॥
Jabal darshan upanishad. Pandit Shri Ram Sharma, 108 upanishad, 1 edition , Sanskriti sansthana bareilly, 1961:101.

27 मूलाधारं यदा प्राणः प्रविष्टः पण्डितोत्तम ॥ 43/4 ॥
Jabal darshan upanishad. Pandit Shri Ram Sharma, 108 Upanishad , 1 edition, Sanskriti santhan bareilly, 1961;103.

28 तदाद्यं विषुवं प्रोक्तं तापसैस्तापसोत्तम। प्राणसंज्ञो मुनिश्रेष्ठ मूर्धानं प्राविशद्यदा ॥ 44 ॥
Jabal darshan upanishad. Pandit Shri Ram Sharma, 108 Upanishad, 1 edition, Sanskriti santhan bareilly, 1961;103.

29 तदन्त्यं विषुवं प्रोक्तं तापसैस्तत्त्वचिन्तकैः । निःश्वासोच्छ्वासनं सर्वं मासानां संक्रमो भवेत् ॥ 45 ॥
Jabal darshan upanishad. Pandit Shri ram shrama, 108 upanishad, 1edition, Sanskriti sansthan Bareilly, 1961:103.

30 इडायाः कुण्डलीस्थानं यदा प्राणः समागतः । सोमग्रहणमित्युक्तं तदा तत्त्वविदां वर ॥ 46/4 ॥
यदा पिङ्गलया प्राणः कुण्डलीस्थानमागतः । तदा तदा भवेत्सूर्यग्रहणं मुनिपुङ्गव ॥ 47/4 ॥
jabal darshan upanishad. Pandit shri ram sharma, 108 upanishad, 1 edition,Sanskriti Santhan Bareilly, 1961:103.

31 अपाने मूलकन्दाख्यं कामरूपं च तज्जगुः । तदेव वह्निकुण्डं स्यात् तत्त्वकुण्डलिनी तथा ॥ 6 ॥
Rograj Upanishad

Research Scholar,
department of yogic science,
Gurukul Kangri deemed to be university,
Haridwar
Res : Bhatia Shop, Vishnu Gardan
Singhdwar, Haridwar (Uttarakhand)
Pin. 249404
Mob: 7905911402

Mañjuśrī: Trikulanātha

Yamit Kashyap

Abstract

Bodhisattva of Wisdom Mañjuśrī roars with gentle elegance the wisdom of sunyata. This paper examines the personification of Mañjuśrī, by first, locating the literary inspiration in *Panchasikha* and *Brahmā Sanatkumāra* to understand what qualities are personified. The paper also finds Mañjuśrī to be primarily an interlocutor between Buddha and students. The paper then goes on to examine Mañjuśrī as the *Bodhisattva* of Wisdom and discusses the symbolism of Mañjuśrī. Finally, the paper discusses Mañjuśrī's place in the Tantra system. The paper primarily asks the question, what is the function of such personification.

Literary Origin of Mañjuśrī: Pañcaśikha, Brahmā, both or Neither?

In Mahāyāna literature Mañjuśrī is variously known as *Mañjughoṣa*, *Mañjusvara*, *Vādirājā*, *Vāgīśvara* and *Mañjuśrījñānasattva*. Here, we do not conduct a historical account of the literary origin and spread of the figure of Mañjuśrī in India, China, Tibet, Nepal. Nonetheless, the paper presents a short summarization to demonstrate the variations in the narratives. For this we primarily refer to Tribe's paper, which is a comprehensive survey of the origin of the figure of Mañjuśrī. Tribe navigates through a number of possible origins of Mañjuśrī, examining if it is possible to establish definitively what the inspiration or influence behind the figure might be. It is not a straightforward task as Mañjuśrī's textual-historical beginnings are rather unclear. He is associated with the collection of *prajnaparamita* sutras (Perfection of Wisdom sutras) but not as the author. Sutras were composed in his honour by at least AD 250 and by AD 400 representations of art appeared.

Tribe examines his origins in the pre-existing figures of *Pañcaśikha*, the king of *Gandharva*s, as well as the eternally youthful *Brahmā Sanatkumāra* (Tribe, 1999). There is resemblance of attributes of Mañjuśrī with a *Gandharva* (a celestial musician) called *Pancashiksha*. Referring to Lalou, Tribe identifies five affinities between Mañjuśrī and Pancasikha (who appears in both Pali and Sanskrit texts). First affinity is the five hair braids. Second affinity is the set of their attributes regarding voice and speech. *Pancashikha*, like Mañjuśrī, is also attributed the quality of being "gentle voiced". Fourth is their youthful appearance. Fifth affinity is that Pancasikha also appears in the role of interlocutor. Due to these five affinities one may argue for the case that the figure of *Pañcaśikha* is the inspiration behind the figure of Mañjuśrī.

Tribe also discusses the narrative of a mountain called *Gandhamadana* which was referred to as the home of the king of the *gandharva*s. Due to its geographical location, *Gandhamadana* is part of a distinctive five-peaked range -*Pañcaśikha*. The association of the term *Pañcaśikha* with the region where the king of the *gandharva*s lives might suggest that *Pancasikha*, being a celebrated *gandharva*, could derive his name from the geographical features of this area. Some Chinese sources place his birthplace in Mount Wu-t'ai. Alternatively, Wu-t'ai shan may have appeared as a suitable abode for Mañjuśrī because of an earlier association with the five-peaked region of Mt.*Gandhamadana*.

Tribe also examines affinities between the figures of a Brahmā and Mañjuśrī, due to the affinity in qualities related to speech. He cites the *Janavasabha Sutta* from the Pali canon which has a description of the qualities of speech of a Brahmā called Sanatkumāra, who is a disciple of the Buddha. That text describes his voice with the following eight characteristics: "*fluent, intelligible, sweet (manju), audible, continuous, distinct, deep and resonant*,". The name *Sanatkumāra* means 'Forever-a-youth' which is similar to another one of Mañjuśrī's names, *Mañjuśrīkumarabhatu*, which literally translates into '*Mañjuśrī, Still a Youth*' or '*Prince Mañjuśrī*', depending on whether one takes *kumara* as a young boy (around 16 years which is a coming of age in Ancient India) or one takes the meaning as prince. Why a prince? Because he is not king (Buddha) yet- he is a king-to-be, a prince. Furthermore, in a former birth, *Brahmā* Sanatkumāra had hair tied in five

knots (which was the norm for young boys in ancient period of time). Thus, an affinity of five-knots on the head and youth.

Tribe asserts that in regards to the inspiration of the figure of Mañjuśrī, it is possible to attribute that to both *Pañcaśikha* and *Sanatkumar Brahmā*. What this also implies is that there is lack of conclusive evidence which prevents one from definitely positing the literary inspiration behind the figure of Mañjuśrī. Both have affinities around speech, five-knots on the head and youthfulness. Note that it is affinities which Tribe has mentioned and not similarities. Affinity is personal- for we are looking at the persona of the two and not at their singular representation. It is also to be noted that the choice made by Tribe in choosing to examine both *Pañcaśikha* and *Brahmā Sanatkumāra* has the commonality of being found in the Pali canon.

Literary function of Mañjuśrī: The Interlocutor

We have discussed two of the possible sources of the origins of the literary figure of Mañjuśrī. Having now done a sweep from the outside, so to speak, we do a sweep within the narrative- What role does Mañjuśrī play, as a character in the narrative? Mañjuśrī is the main character in texts such as *Vimalakīrtinirdeśa*, which belongs to the early part of Mahāyāna Sutras. Mañjuśrī's role in the *Vimalakīrtinirdeśa sūtra* is that he is the Bodhisattva skillful enough to enter dialogue with Vimalakīrti who is an expert thinker with good debating skills. Through a round of debate and demonstrating the reasoning in the texts' profound teachings on emptiness, he nullifies Vimalakīrti's reasoning. Meshram writes "*In some of these sutras the dialogues that Manjushshri has with the Buddha are so intimate that we can get a sense that we are hearing the Buddha thinking out loud.*" (Meshram, 2017).'*Buddha thinking out loud*'- an apt phrase for a role that such a personification functions to perform.

Tribe's classification of Mañjuśrī literature is based on the function of the Mañjuśrī figure. The figure of Mañjuśrī functions as either an interlocutor, a converter of beings to Buddhist Dharma, as a *kalyānamitra*, as an object of meditation and devotion and as a protector. Perhaps it is Tribe's attempt to make an exhaustive set which covers all the

sutras based on the literary functionality of Mañjuśrī . I paraphrase the functions that Tribe uses to categorise the texts.

A number of Mahāyāna Sutras portray the feature of Mañjuśrī as *Kalyānamitra*. In *Ajātaśatrukaukṛtyavinodana* Sūtra, he is a *kalyānamitra* to Magadhan King Ajātaśatru. In this text, the Buddha explains how countless other Buddhas in the past were Mañjuśrī's disciples and that in the future he will inspire innumerable Buddhas to attain full and complete awakening. This can be understood with the reason that all Buddhas become Buddhas only after they have perfected the quality of wisdom and thus it is wisdom that teaches Buddhas. Another function which Tribe ascribes to the character of Mañjuśrī in the texts is Mañjuśrī being the object of meditation and devotion. The fifth function which Tribe ascribes to Mañjuśrī is as a Protector deity. It appears that this category of the classification includes the Tantra texts thereby making the classification comprehensive.

His character speaks about wisdom of emptiness most especially during his 'moderator' duties, which is a quality of his speech- the speech is not a voice of reason or voice of wisdom, though it encompasses that too. It is rather wisdom expressed via speech. As the sweet and gentle voiced one, perhaps it is no coincidence that he is shown as a very skillful conductor of dialogue who, like a very skillful assistant, asks right questions so as to demonstrate the steps of reasoning. He serves as an instigator of topics requiring clarification or some subtle point to be made. As personification, it is perhaps to demonstrate the skill with which a being who has perfected wisdom- reasoning of emptiness in *yoga* with *Bodhicitta*. What is Bodhicitta? The *citta*(mind) of *Bodhi*- "*the spontaneous altruistic intention to achieve Buddhahood for the benefit of all sentient beings*" (Damdul, 2018). As personified wisdom, he is supposed to serve as the invoker and presenter of wisdom in a Buddhist text concerning *paramārthasatya* (Ultimate Truth) as opposed to texts where the primary subject matter is concerning *saṃvṛtisatya* (Conventional Truth).

Figure of Mañjuśrī in Buddhadharma: Mañjuśrī the Bodhisattva of Wisdom

Each Buddhist school has their own respective technical understanding. This implies that the understanding of the perfection of wisdom has subtle differences. To make our paper specific, we follow the *prasangika-madhyamaka* interpretation of reasoning of emptiness (read through Candrakirti's *Madhyamakavatara*).

For a standard definition of Bodhisattva I quote - "*courageous beings who have generated bodhicitta to become buddhas for the benefit of all sentient beings*" (Damdul, 2018). *Paramita* is a quality belonging to a set of ten qualities required for *Nirvāna* or Buddhahood (note there are two different aims (*nirvāna* and *samyaksāmbuddha*) which implies two different targets (afflictive obscurations and both afflictive and cognitive obscurations), therefore, two different paths (Theravāda, Mahāyāna). This, in short, is the reason for differences in the enumeration of what are the paramitas in Theravāda and Mahāyāna. These ten qualities are laid out as stages to be crossed- as *bhūmī* (grounds) to be traversed before reaching the endpoint of Buddhahood.

What is the reason that he is a Bodhisattva of wisdom? He is established in the preceding five qualities, that is, perfected all previous five *paramitas* (traversed all the previous five *bhūmīs*) which act as prerequisites for perfection of wisdom; like a man with eyesight guiding five blind men; perfection of wisdom now brings all other qualities to seeing, guiding the other five qualities to their complete perfection. He has now become established in the sixth *bhūmī* and as far as the tenth *bhūmī*. Perfection of wisdom is to see that phenomena are empty of objective existence. They exist through mere imputation of labels.

Mañjuśrī is a Bodhisattva who personifies perfection of wisdom. Still better to say, a powerful emanation of wisdom in *kāmadhātu* (desire realm). The term 'Manju+Sri' literally translates as the sweet-voiced one. He is also ascribed with labels such as the glorious, the victorious, gentle glory. The content of the roar is gentle, elegant and sweet. Roar because king of the reasoning. King of reasoning means that the reasoning of emptiness triumphs against all views, hence victorious. Another meaning of victorious is that he has defeated the self-grasping ignorance. Gentle because it is given out of

compassion and because it is soothing. It is soothing because of the wisdom of emptiness which leads to full awakening, which is the state of fearlessness. Elegant due to economy of words and expert articulation. Sweet because it strikes the root of fear thereby making one fearless. It is the glory of all Buddhas, hence glorious.

There are many qualities associated with Mañjuśrī. For example, speech associated with/to Manjusrhi has sixty melodious qualities. (This is a different classification from eight as mentioned above). Then, there are other attributes like the pleasantness of hearing due to clear articulation. He is adorned with 112 attributes. A huge number of qualities are ascribed to Mañjuśrī in *Mañjuśrīnāmasaṃgīti*. They are not merely attributive ascriptions, but rather each representing something (here representing through a metaphor or literal statement as opposed to representation through visual symbols) about Mañjuśrī, about the attributes of a being who perfects wisdom.

Madhyamaka scholars, such as Nāgārjuna, Āryadeva, and Śāntideva begin their texts with verses dedicated to Mañjuśrī. This is part of setting the proper motivation and continued in Tibet as well and eminent scholars like Tsong-kha-pa (who used to recite verses of both Sarasvati and Mañjuśrī) are even considered as emanations and embodiments of Mañjuśrī.

Symbolism of Mañjuśrī: The Sword of Wisdom and Heart Sutra

Here we briefly look at the visual representation and its symbolism- how various symbols signifying different qualities are hooked in an image, much like a concept, meditating upon which serves as a framework to tackle refined philosophical questions pertaining to the nature of reality.

The reason that he is depicted as a sixteen year old is to convey the idea that wisdom has nothing to do with age in the physical world. He is usually depicted with a dusky complexion (there are other forms like, red, blue, black, etc.) This is to emphasise the idea that perfection of wisdom is the dawn of Buddhahood (How things become visible in the light of dawn, the first light of the day). In some visual representations of Mañjuśrī, he can be seen seated on a lotus flower. In some, he is seated on a snow lion (of course, there are no real snow lions, only snow leopards, but then again, Mañjuśrī is also

not conventionally real). Whenever a being 'progresses on the path' by accumulating wisdom, they are emanating Mañjuśrī, which is to say their insight is getting subtler- they are getting closer to understanding the true nature of phenomena which is the emptiness of objectivity.

Why a lotus flower? To symbolise the 'bloom' of wisdom. A lotus blooms in mud but itself remains spotless. As such it is often considered as a representation of purity of wisdom- unaffected by false reasoning, victorious against the foes- foes which are identities as craving, aversion and ignorance. Aversion is craving of wanting to be free from unpleasant feelings and as such it can be subsumed under craving. Craving is borne out of ignorance, ignorance about the true nature of phenomena. As such, the main foe is ignorance.

Mañjuśrī is most often depicted with a flaming sword in the right hand cutting away the manyfold spawnage of suffering, clearing away the darkness of ignorance. This is what he slashes with the sword in the right hand- the manyfold spawnage of suffering borne out of ignorance. Note that in the Pali literature *arhat* literally translates into foe-destroyer. Of course, what is the foe and how it is destroyed, differs in various Buddhist schools. All of them can be subsumed under the umbrella terms of ignorance and wisdom respectively. In Mañjuśrī's left hand he is mostly seen holding either the stem of a lotus which holds a text or the text itself. The text is *Prajnaparamita hridaya* sutra also known as the Heart sutra. There are some other variations of Mañjuśrī, for example, in the Manjughosha form the book is held to the heart.

Concepts serve to hook together relations. Such hooking together of relations can occur in literary devices that are not textual. Perhaps then concepts can be outside texts as well. Such artwork hooks together attributes and causal conditions of wisdom, which serve as a guideline to the path. Such path is traversed cognitively as well meditatively, accumulating various qualities. Therefore to have such visual tools hooking together their relations serve as an efficient tool to reason sharply and subtly as one engages with oneself in a dialogue about nature of reality, thus, 'emanating' wisdom.

Mañjuśrī in Tantra: A Lord of the Three Worlds

Now the paper briefly discusses Majushri's place in the Tantra system, as part of the Vajrayāna literature. The figure of Mañjuśrī, as deity in deity worship, is involved in tantra practices; especially in *Kalachakra* tantra texts. While it is the principle figure in Tantric monasteries, there is only one Mañjuśrī temple in India, situated in village Alchi, Ladakh. Along with *Bodhisattva* Avalokiteśvara (HHDL is considered as an emanation of Bodhisattva Avalokiteśvara) and *Bodhisattva Vajrapani*, he is one of *Trikulanātha* (three guardians) of the sons and daughters of the *tathāgatagarbha*. The three of them are lords of all three realms- *kāmadhātu* (Desire realm), *rūpadhātu* (Form realm) and *ārūpyadhātu* (Formless realm). Note that *tathāgata* is a label in the Pali canon used for Buddha- one who has thus gone far. *Tathāgatagarbha* connotes children of dharma, which refers to students of Buddha and Dharma. There is another meaning of family. It derives from the following reasoning- sentient beings have been taking birth since beginningless time. In such a long time (lasting over *kalpas*) they have been born repeatedly. So, it can be said that everyone has, at some point, been one's mothers and fathers. By such reasoning, one developes a feeling of closeness and love towards other beings, thereby wanting to benefit all beings. This is a connotation of the label family as it is used here.

A prominent figure in Vajrayāna literature is Yamantaka which is a wrathful manifestation of Mañjuśrī. The Sanskrit word 'Yamantaka' can be understood as '*yam +antaka*' which means cessation of death. Ending death is ending the birth-death cycle (escaping the clutches of *Māra*; rebirth cycle; exhaustion of karma), which is a different presentation of the concept of Buddhahood. He is associated with *Anuttarayoga* tantras like *Guhyasamaja* and *Hevajra*. In fact Yamantaka is associated with both sets of mother and father tantras. The *beej* (seed) mantra of Mañjuśrī is *-Om Aa Ra Pa Tsa(or Ca) Na Dhi(X3).* It is like a condensed summarisation (similar to formula) of the *prajnaparamita* teachings.

Conclusion

Mañjuśrī's narratives, role, symbolism are multiple and enclosed within the horizon of the role of wisdom in Buddhist soteriology. This paper has directly examined the

origins and the function of such a personification and indirectly the role of fictive beings and role of deity worship, specifically in Mahāyāna and Vajrayāna literature. This perhaps comes as an implication that since mind, as the subject, plays a powerful role in our engagement with an 'objective' reality, therefore, mental fabrications are used as efficiency increasing tools- efficiency of progression on the path towards Buddhahood. A weaker reasoning behind this is the idea that people find it easier to identify with an personified figure, as an object of aspiration. He is a fictive being and not a historical person in the past. But he is much more than a literary tool that directs, asks and answers questions. While he is not a historical person, and therefore has not authored any text, it does not mean that we cannot engage with the concept in a meaningful way. More than a literary being. Yet not a really real being.

We have examined Mañjuśrī as personified wisdom in Desire realm. Wisdom is not limited to Desire realm. Desire realm is where humans take birth. For personification can only occur where there are persons. In this examination, we must remember the concept of Mañjuśrī- not limited to personified Wisdom but also emanation- every cognitive process done with the established knowledge of the emptiness of objectivity of the phenomena is Mañjuśrī "alive", brought to birth, to being. By emanation it is understood as a powerful wave surging from a source and by embodiment it is understood a way of living where perfection of wisdom is a lived experience, that is, as an illustration, every act (of body, speech and mind) has gone through the cognitive reasoning of emptiness.

Literary figure of Mañjuśrī as part of narrative versus literary figure of Mañjuśrī as an object of veneration. In the former he is an interlocutor while in the latter he is the object of devotion, worshipped as a deity. Anthropomorphising the literary device of 'wisdom voice' or personifying wisdom into literary narratives? Which happened first is a wrong question here. Rather, the question that writing texts of Mañjuśrī is an attempt at textualizing ultimate truth. Here, is personification an instance of textualised wisdom (or wisdom textualised)? The paper does not examine an otherwise fascinating question of

whether Mañjuśrī is a personification of perfection of wisdom or an anthropomorphisation of perfection of wisdom.

How is personification used as a literary tool to convey concepts which otherwise cannot be hooked together in a literal articulation? The paper, in its humble research, finds that the personification of Sri Manju functions primarily as a highly skilled interlocutor in Mahāyāna, a literary device to elaborate teachings on *paramārthasatya* (Ultimate Truth). In Vajrayāna literature, the figure of Sri Manju becomes the object of veneration, deity worship and *yidam*. A literary being but not limited to that. In the Buddhist understanding of reality in very general terms, which describes reality to be like an illusion, he is very much an illusion of great skill. In *Mañjuśrīnāmasaṃgīti* he is at one place described as *'The great illusion's great illusionist'*. He is all these things, depending on the type of narrative. Mañjuśrī, can then also be understood, as a concept-concept of wisdom perfected. Mañjuśrī is not made of the same parts as a person is made of the five aggregates. But he is made of different parts (literary parts for the literary figure) and performs a variety of functions (literary functions). In the spirit of Heart sutra which expounds the reasoning of emptiness, there is no Mañjuśrī. In the same spirit this implies that there are dependent parts which make up perfection of wisdom- that is, there are various causes and conditions which lead to generation and perfection of wisdom. Accumulating all those 'parts' (cognitively and through various *samādhi*) one 'creates' emanations.

Endnotes

1. I have italicised all terms in Sanskrit including names of texts except proper nouns. I use the IAST scheme.

References

1. Apple, James B. (2017*). "Mañjuśrī." In: Sarao* K.T.S., Long J.D. (eds) Buddhism and Jainism. Encyclopedia of Indian Religions. Springer.
2. Damdul, Dorje (2018) ed(4). *The Blaze of Non-Dual Bodhicitta*. Tibet House New Delhi.

3. Meshram, M, (2017) *The Signification Of Bodhisattva Mañjuśrī In Mahāyāna Buddhism*, International Research Journal of Indian languages, Vol.5(7)
4. Tribe, Anthony. (1999). *Mañjuśrī: Origins, Role and Significance*, Parts I, II, III. Western Buddhist Review, Vol. 1(2)
5. Wayman, Alex. (1985). *Chanting the names of Mañjuśrī: The Mañjuśrīnāmasaṃgīti, Sanskrit and Tibetan texts.* Shambala.
6. 84000: *Translating the Words of the Buddha*. (2023). *Eliminating Ajātaśatru's Remorse: Ajāta-śatrukaukṛtyavinodanaMahāyānasūtra,* Tr. Dharmachakra Translation Committee. Eliminating Ajātaśatru's Remorse / 84000 Reading Room.
7. ibid. (2017). *The Teaching of Vimalakīrti: ĀryavimalakīrtinirdeśanāmaMahāyānasūtra*, Tr. Dharmachakra Translation Committee. The Teaching of Vimalakīrti / 84000 Reading Room.

Yamit Kashyap
Research Scholar
Dept. of Philosophy
University of Delhi
E-mail: yamitkashyap@gmail.com
Res: C-132 Sector-26
NOIDA-201301(UP)
Mob: 9868107587

श्रीविद्या साधना पीठ, वाराणसी

श्रीदत्तात्रेयानन्दनाथ जी (सीताराम कविराज) ने सन् १९९६ ई० में श्रीविद्या मन्त्रयोग द्वारा भगवती पराम्बा ललितामहात्रिपुरसुन्दरी की उपासना तथा श्रीविद्या साधना पीठ की स्थापना की। भारतवर्ष में अपने प्रकार की अद्वितीय इस संस्था की स्थापना स्वामी करपात्री जी महाराज के द्वारा उत्तर भारत में लुप्तप्राय श्रीविद्या उपासना को पुनरूज्जीवित व समृद्ध करने के उद्देश्य से की।

संस्था का भवन

वाराणसी में नगवा क्षेत्र में गंगाजी के सुरम्य तट के निकट ही अत्यन्त प्रशस्त और शान्त स्थल में नवनिर्मित चार मंजिल के भवन में यह आश्रम प्रतिष्ठित है। इसमें दो विशाल सभाकक्ष एवं तेरह कक्ष हैं, जिनमें यज्ञमण्डप, अर्चनकक्ष, ग्रन्थालय, शिक्षा एवं अनुसंन्धान प्रकाशन विभाग एवम् अतिथि कक्ष आदि स्थित हैं।

श्रीविद्या साधना पीठ के अङ्ग विभाग एवम् गतिविधियाँ

उपासना, अनुसन्धान एवं शिक्षण, (अध्यापन एवं छात्रावास सहित), प्रकाशन, ग्रन्थालय साधक प्रशिक्षण/साधकावास एवम् अतिथिकक्ष।

साधना पीठ में निगमागम शास्त्रों द्वारा विहित उपासना यथाविधि नियमित रूप से सम्पन्न होती है। दीक्षित साधक/साधिकायें पारम्परिक आचार्य के निर्देशन में यह साधना सम्पन्न कर रहे हैं।

शिक्षण विभाग में छात्रों को सुयोग्य विद्वानों द्वारा वेद शास्त्र का नियमित अध्ययन कराया जाता है एवं उन्हें आगमतन्त्र का सामान्य रूप से तथा श्रीविद्या का विशेष रूप से प्रशिक्षण भी दिया जाता है।

श्रीविद्या-साधकों के पथप्रदर्शन, श्रीविद्यायन्त्रार्चन पद्धति के प्रशिक्षण आदि के साथ-साथ श्रीविद्या से सम्बन्धित दुर्लभ वाङ्मय का प्रकाशन, श्रीविद्यासाधकों की सेवा, सहयोग एवं मार्गदर्शन के लिए पीठ का द्वार सदा उद्घाटित है। श्रीविद्या से सम्बन्धित दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशन कम में श्रीविद्यारत्नाकर, श्रीविद्यावरिवस्या (पूजापद्धति), भक्तिसुधा, भुवनेश्वरीवरिवस्या, साम्बपञ्चाशिका (हिन्दी व्याख्या), विरूपाक्षपञ्चाशिका (हिन्दी व्याख्या), श्रीललितासहस्रनाम स्तोत्र, श्रीमहागणपतिवरिवस्या, उपचारमीमांसा आदि के अनन्तर साङ्गोपाङ्ग श्रीविद्योपासना का अपरिमेय सागर श्रीविद्यार्णवतन्त्र (भाग १-२) हिन्दी भावविवृति सहित सुलभ है।

साधनापीठ में करपात्र स्वामी स्मृति आगम के ग्रन्थों का एक ग्रन्थागार है इसमें आगम पर देश विदेशों में प्रकाशित ग्रन्थों, आगम-तन्त्र की पाण्डुलिपियों का सङ्ग्रह आरम्भ कर पाण्डुलिपि सङ्ग्रहालय स्थापित कर अप्रकाशित ग्रन्थों का प्रकाशन भी आरम्भ किया जा रहा है।

पूज्य गुरुदेव दत्तात्रेयानन्दनाथ जी द्वारा श्रीविद्या साधना पीठ के सम्मुख भव्य उपासना मण्डप एवं श्रीविद्यासाधना की प्रधान अङ्गभूत अनुत्तराम्नायअधिष्ठात्री श्री श्रीशांकरी देवी ललिता महात्रिपुरसुन्दरी की भव्य प्रतिमा एवं श्रीयंत्र की स्थापना भी की गयी है। जहाँ प्रतिदिन श्रीयंत्र की महापूजा होती है।

शिक्षण/प्रशिक्षण

साधनापीठ में इस समय २० छात्र भोजन एवं आवास की सुविधा के साथ निःशुल्क शिक्षण एवं साधना का प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे हैं।

उपर्युक्त सुविधाओं के साथ ही नियमित छाक्षवृत्ति एवं छात्रों की शिक्षा पूरी होने पर उनके नाम जमा की गयी एक निश्चित धनराशि देने का भी प्रावधान किया गया है।

अनुसन्धान एवं प्रकाशन

साधनापीठ अपने अनुसन्धान एवं प्रकाशन के कार्यक्रम का और विस्तार करेगा और श्रीविद्या के विभिन्न श्रेत्रों में तथा सामान्यतः आगमतंत्र के रहस्यों को साधको तक उपलब्ध कराने हेतु षाण्मासिक पत्रिका श्रीविद्यामन्त्रमहायोग का नियमित प्रकाशन किया जा रहा है।

साधना

साधना के क्षेत्र में भी देश और विदेश के जिज्ञासु साधकों को समुचित निर्देश और प्रशिक्षण प्रदान करने के लिये आवश्यक तन्त्र का विस्तार किया जा रहा है।

श्रीविद्यासाधना पीठ द्वारा प्रकाशित श्रीदत्तात्रेयानन्दनाथ जी द्वारा सम्पादित एवं रचित ग्रन्थों की सूची

१.	श्रीविद्यारत्नाकरः	षोडशानन्दनाथश्रीकरपात्रस्वामिरचित	८००/-
२.	श्रीविद्यावरिवस्या	षोडशानन्दनाथश्रीकरपात्रस्वामिरचित	५००/-
३.	श्रीमहागणपतिवरिवस्या	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचिता	३००/-
४.	श्रीभुवनेश्वरीवरिवस्या	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचिता	३००/-
५.	श्रीललितासहस्रनामस्तोत्रम्	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचिता	१५०/-
६.	उपचारमीमांसा	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचिता	५०/-
७.	मन्त्रमहायोग	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचिता	२०/-
८.	श्रीविद्या एवं श्रीयन्त्र एक परिचय	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचिता	२०/-
९.	श्रीविद्यार्णवतन्त्रम् (प्रथम एवं द्वितीय भाग)	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचिता	प्रति सेट ३५००/-
१०.	श्रीविद्या-साधना-मीमांसा	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचिता	६००/-
११.	श्रीविद्यापञ्चरत्नम्	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचिता	-/-
१२.	तान्त्रिकपंचांग (श्रीविद्यासाधनाऽष्टाङ्गम्)	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचिता	१००/-
१३.	आगमतन्त्र की षाण्मासिक शोध पत्रिका (प्रति अंक)		१२५/-